शब्दशक्ति और ध्वनि-सिद्धान्त

डॉ० सत्यदेव चौधरी
(हिन्दी, संस्कृत), शास्त्री, पी-एच. डी.
रीडर हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

काशन
अलंकार प्रकाशन
झील, दिल्ली-५१

संस्करण :
प्रथम, १९७२

सर्वाधिकार :
लेखकाधीन सुरक्षित

मूल्य : दस रुपए

प्राक्कथन

मेरे मुद्रणाधीन ग्रन्थ 'भारतीय काव्यशास्त्र' का एक भाग 'शब्दशक्ति और ध्वनिसिद्धान्त' आपके सम्मुख है। इसमें संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों, विशेषतः मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के आधार पर विवेच्य विषय से सम्बन्धित सामग्री संकलित की गयी है। शब्दशक्ति-प्रकरण वस्तुतः काव्यशास्त्र का निजी नहीं है, इसके स्रोत व्याकरण के अतिरिक्त न्याय, मीमांसा आदि दर्शन-ग्रन्थों से उपलब्ध किए जा सकते हैं। यह कार्य मैं नहीं कर सका, और जिन विद्वानों ने यह कार्य किया है, उनसे भी मैंने सहायता लेनी उचित नहीं समझी। इसी प्रकार ध्वनिकाव्य के सभी उपभेदों के उदाहरण भी इस ग्रन्थ में जान-बूझकर नहीं दिये गये। किन्तु जो भी सामग्री इस ग्रन्थ में संकलित है, उसे व्यवस्थित, सरल, सुबोध तथा स्वच्छ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जो नहीं है, उसे सुधी पाठक अन्यत्र देखेंगे, पढ़ेंगे, जो है, उसकी त्रुटियों से मुझे अवगत कर मेरा उपकार करेंगे।

विद्वदनुचर,

—सत्यदेव चौधरी

मर्मज्ञैः काव्यतत्त्वस्य कृतञ्चेद् विमर्शनम्।
सर्वथा स्याच्छिरोधार्यं मम तुष्टिप्रदं परम्॥

प्राक्कथन

मेरे मुद्रणाधीन ग्रन्थ 'भारतीय काव्यशास्त्र' का एक भाग 'शब्दशक्ति और ध्वनिसिद्धान्त' आपके सम्मुख है। इसमें संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों, विशेषतः मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के आधार पर विवेच्य विषय से सम्बन्धित सामग्री संकलित की गयी है। शब्दशक्ति-प्रकरण वस्तुतः काव्यशास्त्र का निजी नहीं है, इसके स्रोत व्याकरण के अतिरिक्त न्याय, मीमांसा आदि दर्शन-ग्रन्थों से उपलब्ध किए जा सकते हैं। यह कार्य मैं नहीं कर सका, और जिन विद्वानों ने यह कार्य किया है, उनसे भी मैंने सहायता लेनी उचित नहीं समझी। इसी प्रकार ध्वनिकाव्य के सभी उपभेदों के उदाहरण भी इस ग्रन्थ में जान-बूझकर नहीं दिये गये। किन्तु जो भी सामग्री इस ग्रन्थ में संकलित है, उसे व्यवस्थित, सरल, सुबोध तथा स्वच्छ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जो नहीं है, उसे सुधी पाठक अन्यत्र देखेंगे, पढ़ेंगे, जो है, उसकी त्रुटियों से मुझे अवगत कर मेरा उपकार करेंगे।

विद्वदनुचर,

—सत्यदेव चौधरी

मर्मज्ञैः काव्यतत्त्वस्य कृतञ्चेद् विमर्शनम्।
सर्वथा स्याच्छिरोधार्यं मम तुष्टिप्रदं परम्॥

यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।

—ऋग्वेद

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

—कालीदास

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

—दण्डी

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥

—कुन्तक

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥

—कुन्तक

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः।
अर्थे तत्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥

—भट्ट नायक

विषय-क्रम

प्रथम अध्याय : शब्दशक्ति

द्वितीय अध्याय : ध्वनि-सिद्धान्त

: प्रथम खण्ड :

: द्वितीय खण्ड :

: तृतीय खण्ड :

: चतुर्थ खण्ड :

तृतीय अध्याय : काव्य की आत्मा

◇

परिशिष्ट :

◇◇

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रधान आचार्य

[कालक्रमानुसार]

आचार्य	काल (ईस्वी सन् में)
१. भरत	२री शती ई० पू० से २री शती ई० के बीच (अनुमानतः)
२. भामह	६ठी शती का मध्यकाल
३. दण्डी	७वीं शती का उत्तरार्द्ध
४. वामन	८वीं-९वीं शती के बीच
५. उद्भट	९वीं शती का पूर्वार्द्ध
६. रुद्रट	९वीं शती का प्रारम्भ
७. आनन्दवर्द्धन	९वीं शती का मध्यभाग
८. राजशेखर	८८०-९२० ई० के बीच
९. धनञ्जय	१०वीं शती
१०. अभिनवगुप्त	१०वीं-११वीं शती
११. कुन्तक	"
१२. भोजराज	११वीं शती का पूर्वार्द्ध
१३. महिमभट्ट	११वीं शती का उत्तरार्द्ध
१४. क्षेमेन्द्र	११वीं शती का मध्यकाल
१५. मम्मट	"
१६. अग्निपुराण के काव्य-शास्त्रीय भाग का कर्ता	१२वीं शती के निकट (अनुमानतः)
१७. जयदेव	१३वीं शती का मध्यभाग
१८. भानुदत्त	१३वीं-१४ वीं शती
१९. अप्पय्यदीक्षित	१६वीं-१७ वीं शती
२०. जगन्नाथ	१७वीं शती का मध्यभाग

◇◇

प्रथम अध्याय

शब्दशक्ति

संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन समग्र रूप में मूलतः अपना नहीं है। शब्दशक्ति के सम्बन्ध में मीमांसा[1], न्याय[2], वैशेषिक तथा योग आदि शास्त्र-ग्रन्थों के अतिरिक्त व्याकरण-ग्रन्थों में भी प्रसंगानुसार चर्चा की गयी है। यों तो काव्यशास्त्रियों ने उक्त सभी स्रोतों से प्रत्यक्ष रूप से अथवा प्रकारान्तर से सामग्री ग्रहण की है, पर विवादास्पद स्थलो पर इन्होंने प्रायः वैयाकरणों का ही सिद्धान्त-पक्ष स्वीकार किया है।

'शब्दशक्ति' पर प्रकाश डालने से पूर्व तत्सम्बन्धो निम्नोक्त प्रसंगों पर प्रकाश डालना अपेक्षित है—(क) वाक्य (ख) शब्द : स्फोट (ग) स्फोटवाद और वर्णवाद (घ) शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध।

(क) वाक्य

पारस्परिक विचार-विनिमय का सरलतम साधन भाषा है। भाषा का अनिवार्य र्म वाक्य है। यहाँ तक कि इसे भाषा का अपर पर्याय भी माना जाता है।

—ऐसा पद-समूह जो पूर्ण अर्थ का वाचक है वाक्य कहाता है।[3]

—पद कहते हैं वाक्य में प्रयुक्त सार्थक शब्द को। वह वर्ण-समूह जो किसी अर्थ का वाचक होता है सार्थक शब्द कहाता है। जैसे घर, कमल, कपड़ा, मैं, परन्तु, पना, चल, गया, आदि। ये जब तक वाक्य में प्रयुक्त नहीं होते पद नहीं कहाते, शब्द

---

१ शबरभाष्य (शबर), तन्त्रवार्तिक (कुमारिल),

२. तत्त्वचिन्तामणि (गगेश उपाध्याय),
पदार्थतत्त्वनिरूपण (रघुनाथ शिरोमणि),
शक्तिवाद (गदाधर भट्टाचार्य)।

३ पदसमूहो मञ्जूषा (नागेश भट्ट पृष्ठ १

कहाते हैं। वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही इन्हें पद कहते है। 'घर' एक शब्द है। 'मैं अपने घर गया, इस वाक्य में प्रयुक्त 'घर' आदि सभी शब्द 'पद' है।

—'सार्थक पद-समूह' सदा एक वाक्य बन जाए यह आवश्यक नहीं है। इसमे तीन क्षमताएं अनिवार्य है : आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि।

आकांक्षा कहते है परस्पर अन्विति को। वही पद जो एक दूसरे की आकाक्षा रखते हों वाक्य कहाते है, जैसे—'लेखनी, पुस्तक, गृह, व्यक्ति'—ये पद-समूह तो है पर साकाक्ष नही है। अतः यह वाक्य नही है।

योग्यता कहते हैं बौद्धिक सगति को। 'वह उद्यान को आग से सींचता है'—इस वाक्य में प्रयुक्त सभी पद सार्थक हैं, किन्तु पद-समूह के तात्पर्य में 'योग्यता' का अभाव है—आग से सींचना एक असम्भव क्रिया है। अतः ऐसे पद-समूह 'वाक्य' नही कहाते।

सन्निधि कहते हैं काल-व्यवधान के अभाव को। 'मैं अपने घर जाता हूं' यह पद-समूह तभी वाक्य कहाने योग्य है जब प्रत्येक उच्चरित पद के बीच का काल-व्यवधान उतना हो जितना कि सामान्य रूप से अपेक्षित है, अन्यथा नही। 'मैं' कहकर चुप हो जाना, फिर पाँच-सात मिनट के बाद 'अपने' और फिर 'घर' कहना, आदि—यह आसत्तिरहित पद-समूह वाक्य नहीं कहाएगा। अस्तु !

निष्कर्षतः उस सार्थक पद-समूह को वाक्य कहते हैं जो आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि इन तीन क्षमताओं से युक्त हो—

वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽकांक्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः।[1]

—साहित्यदर्पण २य परि०

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने वाक्य के चार लक्षण निम्न रूप में प्रस्तुत किये हैं—

१. 'आख्यातं साऽव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्', २. 'सक्रियाविशेषणम् च', ३. 'आख्यातं सविशेषणम्', ४. 'एक तिङ्'। —महाभाष्य २.१.१

इनमे से प्रथम दो लक्षण परस्पर-सम्बद्ध है। इनका अर्थ है कि वाक्य उस आख्यात (क्रिया) को कहते हैं जिसके साथ अव्यय, कारक, विशेषण और क्रिया-विशेषण मे से किसी एक, दो, तीन या चारों का प्रयोग किया जा सके। तीसरा लक्षण उक्त दोनों

---

१ तुलनार्थ—

(क) **वाक्यं तत्राभिमतं परस्परं सव्यपेक्षवृत्तीनाम्।**
समुदायः शब्दानामेकपराणामनाकांक्षः॥ काव्यालंकार (रुद्रट) २ ७

(ख) **वाक्यं त्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः।**
—तर्कभाष्य, (केशवमिश्र). शब्दनिरूपण. पृष्ठ २७

लक्षणों का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करता है। इस लक्षण में विशेषण 'शब्द का अर्थ है— अव्यय, कारक, विशेषण और क्रिया-विशेषण, अतः इस लक्षण का भी वही अर्थ है जो ऊपर दिया गया है। चौथे लक्षण के अनुसार 'वाक्य' उसे कहते हैं जिसमें एक तिङ् अर्थात् एक क्रिया का प्रयोग किया जाए। इस कथन का अभिप्राय यह है कि वाक्य में केवल एक क्रिया होती है, दूसरी क्रिया के प्रयुक्त होने पर वह दूसरा वाक्य माना जाएगा। इस चौथे लक्षण के सम्बन्ध में पहली बात यह उल्लेखनीय है कि इसके अनुसार यह कदापि अभीष्ट नहीं कि वाक्य में केवल एक क्रिया ही प्रयुक्त होती है, उक्त अव्यय आदि चार प्रयुक्त नहीं होते। उक्त तीनों सूत्रों की अनुवृत्ति के आधार पर इस लक्षण में अव्यय आदि का प्रयोग भी स्वीकार्य है। उदाहरणार्थ 'खाओ' इस क्रिया से प्रसंगानुसार अव्यय आदि चार में से चारों भी अभीष्ट हो सकते है और एक, दो अथवा तीन भी। दूसरी बात यह उल्लेखनीय है कि 'तिङ्' से तात्पर्य केवल तिङन्त क्रियाएं (पठति, अपठत् आदि) अभीष्ट नहीं हैं, अपितु कृदन्त 'क्रियाएं' भी अभीष्ट हैं, यथा—**तेन कृतम्, मया भक्षितम्, त्वया गन्तव्यम्** आदि।

निष्कर्षतः, उक्त चारों लक्षणों में क्रिया पर बल दिया गया है, क्रिया के बिना वाक्य नहीं बन सकता। किन्तु कभी-कभी बिना क्रिया के भी वाक्य प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'अब बस'। किन्तु ऐसे वाक्यों में भी क्रिया का अध्याहार कर लिया जाता है। जैसे इस वाक्य में 'अब बस करो' यह वाक्य अभीष्ट है। यहां 'करो' क्रिया का अध्याहार किया गया है। हाँ, इस स्थिति में पूर्व-प्रसंग का ज्ञान रहना आवश्यक है, अन्यथा यह एक निरर्थक वाक्य है। अतः यह सिद्धान्त मान्य है कि क्रिया वाक्य का अनिवार्य तत्त्व है, चाहे वह स्पष्टतः प्रयुक्त हो अथवा आक्षिप्त हो।

× × ×

इस प्रकार क्रिया की अनिवार्यता सिद्ध हो जाने पर यह कथन अनायास सिद्ध हो जाता है कि भाषा वाक्य का ही दूसरा नाम है। दूसरे शब्दों में, वाक्य ही एक ऐसा छोटा से छोटा रूप है जिसे भाषा नाम से अभिहित किया जा सकता है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों के कथनानुसार वाक्य ही भाषा की इकाई है।

इस स्थिति में दो-तीन शंकाएं उत्पन्न होती है। पहली यह कि कभी-कभी अकेला शब्द अथवा अकेला वर्ण ही वक्ता के तात्पर्य का द्योतक बन जाता है, जैसे— 'क्या लाऊं' का उत्तर—'दूध', 'आप भी तो गये थे' का उत्तर—'हाँ', शोक प्रकट करने के लिए 'च्-च्' यह ध्वनिमात्र, इत्यादि। अतः उन्हें भी 'भाषा' कह सकते हैं, केवल 'वाक्य' को नहीं। शंका का समाधान सरल है। ऐसे कथनों में अन्य शब्द आक्षिप्त रहते हैं और उनका अध्याहार किये बिना तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। अध्याहार कर लेने पर अब वह कथन वाक्य ही कहाएगा, अकेला शब्द (पद) अथवा वर्ण नहीं।

पहली शंका से ही सम्बद्ध अन्य शंका यह है कि वाक्य को भाषा की 'इकाई' स्वीकृत करने पर इस प्रकार की मान्यताएं निरर्थक सिद्ध हो जाती हैं कि विशिष्ट

वर्णों का समूह पद कहाता है', और 'विशिष्ट पदों का समूह वाक्य'। निस्सन्देह यह मान्यता निरर्थक है, किन्तु फिर भी यदि इसे स्वीकृत किया जाता है तो केवल व्याकरण-सम्बन्धी व्यवहार के लिए अथवा भाषा के अध्ययन को सुकर बनाने के लिए—

(क) पदानि असत्यानि। एकम् अभिन्नस्वभावकं वाक्यम्। तद् अबुध-बोधनाय पदविभागः कल्पितः ॥

—पुण्यराज, वाक्यपदीय-टीका २.१२

(ख) पदे न वर्णाः विद्यन्ते वाक्येष्ववयवाः न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ वाक्यपदीय २.७३

(ग) यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते ॥ वाक्यपदीय २.१०

थोड़ा और स्पष्ट रूप में कहें तो वाक्य का प्रत्येक पद वस्तुतः वाक्य में प्रयुक्त हो जाने पर ही अपने अभीष्ट अर्थ का द्योतक बनता है। इससे पूर्व वह निरर्थक सा—अपितु निरर्थक ही—होता है। लगभग ऐसी ही मान्यता 'अन्विताभिधानवादी मीमांसकों' की है जो अभिधा शब्दशक्ति द्वारा अलग-अलग पदों का अर्थ न मानकर अन्वित (परस्पर-सम्बद्ध) पदों के अर्थ का बोध स्वीकार करते है—अन्वितानामेवाऽभिधानं शब्दबोध्यत्वम्, तद्वादिनोऽन्विताऽभिधानवादिन.। (काव्यप्रकाश, बाल-बोधिनी टीका) पृष्ठ २६। इस मन्तव्य के सम्बन्ध में यों भी कह सकते हैं कि एक वाक्य अपने-आप में एक अलग इकाई है, वह पद रूप कई इकाइयों का समूह नही है। अस्तु !

इसी सम्बन्ध में तीसरी शंका यह है कि वक्ता और श्रोता के पारस्परिक भाषा-व्यवहार में अर्थात् इनके द्वारा प्रयुक्त वाक्यों में किसी एक वाक्य की, जिसे भाषा का अपर पर्याय माना गया है, स्थिति क्या होगी ? इसी प्रकार एक लघुकथा, एक उपन्यास, एक कविता, एक खण्डकाव्य अथवा एक महाकाव्य आदि में प्रयुक्त वाक्यों मे एक वाक्य की स्थिति क्या होगी ? इस शंका का समाधान साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने दिया है। पहले उन्होंने वाक्यों के उच्चय (समूह) को 'महावाक्य' कहा है। यहां 'महावाक्य' शब्द महान् अथवा दीर्घ वाक्य का पर्याय नहीं है, अपितु रामायण, महा-भारत, आदिकाव्य-ग्रन्थों का वाचक है। किन्तु इसी प्रसंग मे आगे चल कर उन्होंने स्वय किसी अज्ञात आचार्य का निम्नोक्त कथन प्रस्तुत कर इन महावाक्यों को भी वाक्य नाम दे दिया है :

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्व पुनः संहत्य जायते ॥ —सा० द०, २ य परि०

अर्थात् प्रत्येक वाक्य अपने अपने अर्थ को बना चुकने पर अन्य सम्बद्ध वाक्य का प्रति अंग बनता जाता है और प्रत्येक परवर्ती सम्बद्ध वाक्य का अंगी होता है। इसप्रकार से वस्तुत: ये सभी वाक्य मिल कर अन्तत: एक वाक्य ही होते हैं।

अन्त में हम निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि—

१. वाक्य भाषा की इकाई है—क्योंकि हम इसी में ही विचार-विनिमय करते हैं।

२. वाक्य में क्रिया अनिवार्यत: विद्यमान रहती है—चाहे स्पष्ट रूप में हो अथवा आक्षिप्त रूप में।

वाक्य अनेक पदों से बनता है, किन्तु यदि एक शब्द (पद) अथवा एक वर्ण भी विचाराभिव्यक्ति में समर्थ है तो उसे भी 'वाक्य' कहना चाहिए, शब्द अथवा वर्ण नहीं।

४. साधारणतया, विचाराभिव्यक्ति-समर्थ अकेला वाक्य भाषा कहाता है। इस सम्बन्ध में दो तथ्य विचारणीय हैं :

(क) पहला यह कि एक ही वक्ता द्वारा प्रयुक्त एक वाक्य जब उसी वक्ता के दूसरे वाक्य से सम्बद्ध रहता है तो यह उसका अंग बन जाता है, इस स्थिति में ये दोनों वाक्य मिल कर ही भाषा कहाने के अधिकारी बनते हैं, इनमें से कोई एक अकेला नहीं।

(ख) एक वक्ता द्वारा प्रयुक्त विचाराभिव्यक्ति-समर्थ एक वाक्य भी वस्तुत: भाषा कहाने का अधिकारी तब तक नहीं है जब तक कि वह व्यवहार रूप मे, अथवा कल्पना से ही सही, दूसरे व्यक्ति की अनुभूति का और इसके साथ-साथ उच्चरित अथवा मौन प्रत्युत्तर का कारण नहीं बनता। इस अनुभूति और प्रत्युत्तर के बिना योग्यता आदि तीन गुणों से युक्त कोई भी वाक्य ठीक उसी प्रकार 'भाषा' नाम का अधिकारी नहीं बनना चाहिए जैसे कि बच्चों की प्रवेशिका-पुस्तकों (primers) में प्रयुक्त परस्पर-असम्बद्ध वाक्य, जैसे—"सौदागर आया, कौआ छत पर बैठा है, औरत आयी," इत्यादि।' ऐसे वाक्यों की भी वही स्थिति समझनी चाहिए जो एक वाक्य मे एक सार्थक पद की होती है, अथवा एक पद में एक वर्ण की होती है।

इस सम्बन्ध में आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहीं अधिक दूर तक चले गये हैं। उनके कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की भावनाएं किसी न किसी रूप में परस्पर-सम्बद्ध रहती हैं। अत: उन्हें विभिन्न भावनाएं न कह कर एक 'भावना' ही कहना चाहिए, और इसी के अनुरूप इस 'एक' भावना का माध्यम भाषा भी एक ही है और इस प्रकार एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की भाषा को 'एक वाक्य' ही चाहिए कुछ इसी प्रकार की धारणा विश्वनाथ ने भी प्रस्तुत की थी जिसका

वर्णों का समूह पद कहाता है', और 'विशिष्ट पदों का समूह वाक्य'। निस्सन्देह यह मान्यता निरर्थक है, किन्तु फिर भी यदि इसे स्वीकृत किया जाता है तो केवल व्याकरण-सम्बन्धी व्यवहार के लिए अथवा भाषा के अध्ययन को सुकर बनाने के लिए—

(क) **पदानि असत्यानि। एकम् अभिन्नस्वभावकं वाक्यम्। तद् अबुध-बोधनाय पदविभागः कल्पितः॥**

—पुण्यराज, वाक्यपदीय-टीका २.१२

(ख) **पदे न वर्णाः विद्यन्ते वाक्येष्ववयवा: न च।**
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ वाक्यपदीय २.७३

(ग) **यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः।**
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते॥ वाक्यपदीय २.१०

थोड़ा और स्पष्ट रूप में कहें तो वाक्य का प्रत्येक पद वस्तुतः वाक्य मे प्रयुक्त हो जाने पर ही अपने अभीष्ट अर्थ का द्योतक बनता है। इससे पूर्व वह निरर्थक सा—अपितु निरर्थक ही—होता है। लगभग ऐसी ही मान्यता 'अन्विताभिधानवादी मीमांसकों' की है जो अभिधा शब्दशक्ति द्वारा अलग-अलग पदों का अर्थ न मानकर अन्वित (परस्पर-सम्बद्ध) पदों के अर्थ का बोध स्वीकार करते है—**अन्वितानामेवाऽभिधानं शब्दबोध्यत्वम्, तद्वादिनोऽन्विताऽभिधानवादिनः।** (काव्यप्रकाश, बाल-बोधिनी टीका) पृष्ठ २६। इस मन्तव्य के सम्बन्ध मे यो भी कह सकते है कि एक वाक्य अपने-आप में एक अलग इकाई है, वह पद रूप कई इकाइयों का समूह नही है। अस्तु!

इसी सम्बन्ध में तीसरी शंका यह है कि वक्ता और श्रोता के पारस्परिक भाषा-व्यवहार में अर्थात् इनके द्वारा प्रयुक्त वाक्यों में किसी एक वाक्य की, जिसे भाषा का अपर पर्याय माना गया है, स्थिति क्या होगी? इसी प्रकार एक लघुकथा, एक उपन्यास, एक कविता, एक खण्डकाव्य अथवा एक महाकाव्य आदि में प्रयुक्त वाक्यो मे एक वाक्य की स्थिति क्या होगी? इस शंका का समाधान साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने दिया है। पहले उन्होंने वाक्यों के उच्चय (समूह) को 'महावाक्य' कहा है। यहा 'महावाक्य' शब्द महान् अथवा दीर्घ वाक्य का पर्याय नहीं है, अपितु रामायण, महा-भारत, आदिकाव्य-ग्रन्थों का वाचक है। किन्तु इसी प्रसंग में आगे चल कर उन्होने स्वय किसी अज्ञात आचार्य का निम्नोक्त कथन प्रस्तुत कर इन महावाक्यों को भी वाक्य नाम दे दिया है:

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते॥ —सा० द० २ य परि०

अर्थात् प्रत्येक वाक्य अपने-अपने अर्थ को बता चुकने पर अन्य सम्बद्ध वाक्य के प्रति अंग बनता जाता है और प्रत्येक परवर्ती सम्बद्ध वाक्य का अंगी होता है। इसप्रकार से वस्तुतः ये सभी वाक्य मिल कर अन्ततः एक वाक्य ही होते हैं।

अन्त में हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि—

१. वाक्य भाषा की इकाई है—क्योंकि हम इसी में ही विचार-विनिमय करते है।

२. वाक्य में क्रिया अनिवार्यतः विद्यमान रहती है—चाहे स्पष्ट रूप में हो अथवा आक्षिप्त रूप में।

वाक्य अनेक पदों से बनता है, किन्तु यदि एक शब्द (पद) अथवा एक वर्ण भी विचाराभिव्यक्ति में समर्थ है तो उसे भी 'वाक्य' कहना चाहिए, शब्द अथवा वर्ण नहीं।

४. साधारणतया, विचाराभिव्यक्ति-समर्थ अकेला वाक्य भाषा कहाता है। इस सम्बन्ध में दो तथ्य विचारणीय है :

(क) पहला यह कि एक ही वक्ता द्वारा प्रयुक्त एक वाक्य जब उसी वक्ता के दूसरे वाक्य से सम्बद्ध रहता है तो यह उसका अंग बन जाता है, इस स्थिति में ये दोनों वाक्य मिल कर ही भाषा कहाने के अधिकारी बनते हैं, इनमें से कोई एक अकेला नहीं।

(ख) एक वक्ता द्वारा प्रयुक्त विचाराभिव्यक्ति-समर्थ एक वाक्य भी वस्तुतः भाषा कहाने का अधिकारी तब तक नहीं है जब तक कि वह व्यवहार रूप मे, अथवा कल्पना से ही सही, दूसरे व्यक्ति की अनुभूति का और इसके साथ-साथ उच्चरित अथवा मौन प्रत्युत्तर का कारण नहीं बनता। इस अनुभूति और प्रत्युत्तर के बिना योग्यता आदि तीन गुणों से युक्त कोई भी वाक्य ठीक उसी प्रकार 'भाषा' नाम का अधिकारी नहीं बनना चाहिए जैसे कि बच्चों की प्रवेशिका-पुस्तकों (primers) में प्रयुक्त परस्पर-असम्बद्ध वाक्य, जैसे—"सौदागर आया, कौआ छत पर बैठा है, औरत आयी," इत्यादि।' ऐसे वाक्यों की भी वही स्थिति समझनी चाहिए जो एक वाक्य में एक सार्थक पद की होती है, अथवा एक पद में एक वर्ण की होती है।

इस सम्बन्ध में आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहीं अधिक दूर तक चले गये हैं। उनके कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की भावनाएं किसी न किसी रूप में परस्पर-सम्बद्ध रहती हैं। अतः उन्हें विभिन्न भावनाएं न कह कर एक 'भावना' ही कहना चाहिए, और इसी के अनुरूप इस 'एक' भावना का माध्यम भाषा भी एक ही है, और इस प्रकार एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की भाषा को 'एक वाक्य' ही समझना चाहिए। कुछ इसी प्रकार की धारणा विश्वनाथ ने भी प्रस्तुत की थी जिसका

उल्लेख ऊपर (स्वार्थबोधे समाप्तानाम्···) किया जा चुका है। मनोवैज्ञानिकों का यह कथन अत्यन्त सूक्ष्म एवं तलस्पर्शी है और अधिकांश सीमा तक तथ्यपूर्ण भी, किन्तु इसमे खींचतान ही अधिक है, तथा इसकी स्वीकृति में व्यवहार मे भी कठिनाई उपस्थित होती है। अतः इस धारणा को अधिक बल नही मिलना चाहिए।

(ख) शब्द : स्फोट

लोक-व्यवहार के प्रचारण के लिए शब्द अर्थात् वाक्-शक्ति एक अनिवार्य तथा प्रमुख साधन है। इस साधन का सदा गौरव-गान होता चला आया है—

ऋग्वेद मे वाक्-शक्ति की व्यापकता की तुलना ब्रह्म की व्यापकता से की गयी है।[1]

प्रख्यात वैयाकरण भर्तृहरि के कथनानुसार—(क) वाक्-शक्ति न केवल बोलती है, वरन् वह देखती भी है। इसी मे ही निहित अर्थ का विस्तार होता है। विभिन्न रूपों से युक्त यह संसार इसी मे निबद्ध है, और इसी ही के विभागों पर संसार का व्यवहार आधारित है।[2] (ख) शब्दों के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। समस्त परस्पर-सम्बद्ध ज्ञान शब्द के द्वारा ही भासित होता है।[3]

प्रख्यात काव्यशास्त्री दण्डी के कथनानुसार 'शब्द' नामक ज्योति से यह सम्पूर्ण जगत् देदीप्यमान है, इस ज्योति के बिना यह अन्धकाराछन्न हो जाएगा।[4]

स्पष्ट है कि शब्द के इस गौरव-गान का एक ही कारण है—उसकी सार्थकता। निरर्थक वर्ण-समुदाय तो उपचारमात्र से ही 'शब्द' कहाता है, अतः निरर्थक शब्द उक्त स्तुति का अधिकारी नहीं है।[5]

शब्द के सम्बन्ध में वैयाकरणों के मत का सार यह है—शब्द दो प्रकार का है—कार्य (अनित्य) और नित्य।[6] 'अनित्य' शब्द से तात्पर्य है उच्चारण-जन्य

---

१. यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। ऋग्वेद

२. वागेवार्थं पश्यति वाग् ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुंक्ते॥ वाक्यपदीय १।११९

३. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ वाक्यपदीय १.१२४

४. इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वय ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ काव्यादर्श १.४

५. शब्द और अर्थ के इस नित्य सम्बन्ध का आगे यथास्थान विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

६ तत्र त्वेष निर्णयः यद्येव नित्यः। अथापि कार्यः। उभयथापि लक्षणं प्रवर्तव्यमिति।
—महाभाष्य १ म आ०, पृ० १३

और श्रोत्रग्राह्य ध्वनि अथवा वर्णसमुदाय, तथा 'नित्य' शब्द से उनका तात्पर्य उस मूल शब्द-तत्त्व से है, जो न तो उच्चारण-जन्य है और न श्रोत्र-ग्राह्य। इसे उन्होंने 'स्फोट' की संज्ञा दी है। स्फोट की स्वरूप-निरूपक व्युत्पत्ति है—स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः,[1] अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित होता है। इस प्रकार शब्द के दो रूप हैं—ध्वनि और स्फोट। ध्वनि से व्यक्त होने पर ही स्फोट अर्थ-विशेष का प्रत्यायक होता है। दूसरे शब्दों में, स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि उसका व्यंजक है।[2]

उदाहरणार्थ—राम, गौ, अश्व, गमन, आदि उच्चार्यमाण अथवा श्रोत्र-ग्राह्य शब्द ध्वन्यात्मक हैं, और इनके अनादि काल से आगत रूप स्फोटात्मक हैं। ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य हैं, क्योंकि वे देश, काल, वक्ता आदि के भेद से भिन्न-भिन्न रूपों को धारण कर लेते है। पर स्फोटात्मक शब्द नित्य हैं, क्योंकि वे अखण्ड, सर्वदेशकालव्यापी एव एकरूपात्मक हैं। अर्थ-प्रत्यायन की शक्ति भी 'स्फोट' में ही है, न कि ध्वनि (नाद अथवा वर्ण-समुदाय) में।

ध्वनि और स्फोट के स्वरूप में स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है। ध्वनि अल्प और दीर्घ होती रहती है। पर स्फोट सदा एकरूप रहता है। ध्वनि मे ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत, द्रुत और अतिद्रुत, तथा विलम्बित और अतिविलम्बित वृत्तियो के कारण अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक है, परन्तु स्फोट अभिन्नकालिक, निरवयव, पूर्ण और नित्य है। अर्थप्रत्यायन का मूल हेतु स्फोट है।[3] अतः वस्तुतः स्फोट ही शब्द है। लोक-व्यवहार में ध्वनि को भी यदि शब्द नाम से पुकारा जाता है तो यह उपचार-मात्र है।[4]

निष्कर्षतः 'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है' इस सिद्धान्त-कथन में भी वैयाकरण 'शब्द' का अभिप्राय 'स्फोट' रूप शब्द से लेते हैं, न कि ध्वनि अथवा नाद, अथवा वर्ण-समुदाय से।

---

१. शब्दकौस्तुभ (भट्टोजिदीक्षित) पृ० १२

२. (क) ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यंग्यव्यंजकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥ वाक्यपदीय १.९८
तुलनार्थ—बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। —काव्यप्रकाश १.४ (वृत्ति)
(ख) एवं तर्हि स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः। महाभाष्य १.१.७०

३. (क) स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते ॥ वाक्यपदीय १.७६
(ख) शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ वाक्यपदीय १.७८

४. अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य व्यवस्थापितत्वाद् इहाभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः।
—महाभाष्य, कैयटकृत व्याख्या, पृ० ३

(ग) स्फोटवाद और वर्णवाद

वैयाकरणों का स्फोटवाद नैयायिकों और 'प्राभाकर' तथा 'भाट्ट' पूर्वमीमांसकों के 'वर्णवाद' से विपरीत एक वाद है। इसी कारण इस प्रसंग में नैयायिक और पूर्व-मीमांसक आचार्य 'वर्णवादी' कहाते हैं, और वैयाकरण 'स्फोटवादी'। इन दोनों विचारकों की एतद्विषयक शास्त्रचर्चा पर्याप्त रोचक है।

वर्णवादी आचार्यों के मत में 'राम' आदि उच्चार्यमाण वर्णसमूह ही अर्थ का प्रत्यायक है, पर वैयाकरणों को इस प्रक्रिया पर दो प्रमुख आपत्तियां हैं :

—पहली आपत्ति यह है कि वर्णसमुदाय को अर्थप्रत्यायक स्वीकार करने पर प्रत्येक वक्ता की भिन्न-भिन्न उच्चारण-शैली के कारण अथवा स्वर-लहरी की द्रुत, अतिद्रुत, विलम्बित, अति-विलम्बित आदि वृत्तियों के कारण उस वर्णसमूह के अर्थ मे अन्तर पड़ जाना चाहिए, पर वह नहीं पड़ता।

—दूसरी आपत्ति यह है कि **'शब्दज्ञानकर्मणां द्विक्षणावस्थायित्वम्'** स्वयं न्याय के ही इस सिद्धान्त के अनुसार उच्चार्यमाण कोई भी ध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं टिक सकती। उदाहरणार्थ 'र्+अ+अ+म्+अ' वर्णसमुदाय रूप 'राम' शब्द के प्रत्येक उच्चरित वर्ण के अगले वर्ण के उच्चरित होने तक विनष्ट हो जाने के कारण इन वर्णों का आपस में संघात सम्भव नहीं है। 'र्' के उच्चारण कर लेने के पश्चात् 'अ' का उच्चारण करते ही 'र्' का विनाश हो जाएगा, और दूसरे 'अ' के उच्चारण करते ही पहले 'अ' का। इसी आधार पर कहा गया है कि **'क्रमवर्तिषु वर्णेषु संघातादिर्न युज्यते'**, और इस संघात के अभाव में अर्थ-प्रत्यायन नितान्त असम्भव है।

वर्णवादी इस आपत्ति के उत्तर में कह सकते है कि वर्णों के विनष्ट हो जाने पर भी उनकी स्मृति बनी रहती है और अभीष्ट शब्द के अन्तिम वर्ण के उच्चरित होते ही वे सभी वर्ण स्मृत होकर एक 'शब्द' के रूप मे संयुक्त हो जाते हैं। पर स्फोट-वादी इस युक्ति से सन्तुष्ट नहीं होते। इनके कथनानुसार यह सदा आवश्यक नही कि उच्चरित वर्णों की स्मृति सदा क्रमपूर्वक ही हो, आगे पीछे भी हो सकती है। उदा-हरणार्थ, उपर्युक्त वर्णसमुदाय की स्मृति 'राम' के स्थान पर 'मार', 'रमा', 'मरा', आदि संघातों के रूप में भी सम्भव है। किसी शिशु द्वारा 'कलम' को 'कमल' कह देना इसी का ही प्रमाण है।

o o

किन्तु वैयाकरणों के स्फोटवाद पर उक्त आपत्तियां घटित नही होतीं। इनके मत में उच्चरित वर्ण-समुदाय के अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ ही पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से एकत्र संस्कार के सयोजन से[1] 'स्फोट' रूप शब्द की अभिव्यक्ति होती है। अर्थ-प्रत्यायन का उत्तरदायी यही स्फोट है, न कि वर्णवादियों के समान वर्णसमुदाय।

---

१. **पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतान्त्यवर्णश्रवण**······।

जसा कि ऊपर कह आये हैं स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है—'**स्फुटत्यर्थोऽस्मा-दिति स्फोट :**', अर्थात् जिस शब्द से अर्थ स्फुटित होता है उसे स्फोट कहते हैं। हर शब्द का अपना-अपना नियत स्फोट है, जो कि अखण्ड, निरवयव, पूर्ण और नियत है। इन्हीं विशिष्टताओं के बल पर ही 'वर्णवाद' पर की गयी उक्त दोनों आपत्तियां इसके अर्थ-प्रत्यायन में बाधक सिद्ध नहीं होतीं। स्फोटवाद पर न तो व्यक्तिगत उच्चारण-शैली का, अथवा द्रुत-विलम्बित आदि वृत्तियों का प्रभाव पड़ता है, और न नाद (ध्वनि) के समान इसमें वर्णों के क्रम-भंग की समस्या ही उपस्थित होती है : **नादस्य क्रमजातत्वान्न पूर्वो नाऽपरश्च**। (वाक्यपदीय १।४८) 'र अ अ म अ' ध्वनि किसी भी स्वर-लहरी में उच्चरित होने पर अपने नियत क्रम में ही स्फोट की अभिव्यक्ति करेगी, जिसमें नियत अर्थ का प्रत्यायन अवश्यम्भावी है। वैयाकरणों के अनुसार शब्द स्फोट है। ध्वनि उसका गुण अर्थात् अभिव्यञ्जक है। भेरी पर किये गये आघात के समान ध्वनि (वर्ण-समुदाय) की स्वर-लहरी उच्च अथवा निम्न होती रहती है, पर स्फोट अपने नियत रूप पर स्थिर रहता है—

एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथं भेर्याघातवत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः। (महाभाष्य १.१.७०)

ध्वनि और स्फोट में से कारण कौन है और कार्य कौन—इस स्वाभाविक शंका का समाधान भी वैयाकरणों ने प्रस्तुत किया है। व्यवहार रूप से ध्वनि भले ही स्फोट की उत्पादयित्री प्रतीत होती है, पर भर्तृहरि के कथनानुसार जिस प्रकार एक अरणि की ज्योति दूसरी अरणि की ज्योति का उत्पादक कारण है, उसी प्रकार बुद्धि में स्थित स्फोट-रूप शब्द ही श्रूयमाण ध्वनियों का उत्पादक कारण है—

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्॥ वाक्यपदीय १.४६

निष्कर्ष यह है कि वर्णवादी ध्वनि- (वर्णसमुदाय-) रूप शब्द से अर्थ-प्रत्यायन स्वीकार करते हैं, और स्फोटवादी ध्वनि (वर्णसमुदाय) से स्फोट रूप (नियत) शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं, और फिर इस स्फोट से अर्थ-प्रत्यायन की। हाँ, दोनों पक्षों के मतानुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वैयाकरण सिद्धान्त रूप में अखण्ड वाक्य-स्फोट को ही स्वीकार करते हैं। उनके कथनानुसार न तो कोई पद है, न कोई पद का निर्माता वर्णसमूह है; और न ही कोई वर्ण का निर्माता वर्णावयव है। पद और वाक्य में मूलतः कोई वास्तविक भेद नहीं है;[1] व्याकरण-प्रक्रिया में भले ही यह भेद स्वीकार किया जाए। अर्थ का प्रत्यायक वाक्य ही है। पर सीधे श्रूयमाण वाक्य से भी

---

१. **पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।**
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ वाक्यपदी

अर्थ की प्रतीति नही होती। यह प्रतीति ध्वनि द्वारा व्यक्त स्फोट से होती है। अतः वैयाकरणों ने अन्ततोगत्वा सिद्धान्त रूप में 'अखण्ड वाक्यस्फोट' को ही स्वीकार किया है। अस्तु!

हमारा कुल मिलाकर निष्कर्ष है कि स्फोटवादी ध्वनि से स्फोट रूप नियत शब्द की अभिव्यक्ति मानते है और फिर इस स्फोट से अर्थ-प्रत्यायन की।

× × ×

अब आइए, उक्त निष्कर्ष पर विचार करें। स्फोटवाद का मुख्य सिद्धान्त यह है कि वक्ता जो शब्द उच्चरित करता है और श्रोता जिसे उसी रूप में ग्रहण करता है उसका बाह्य आकार एवं अर्थ अनादिकाल से नियत है। उसका यह रूप वक्ता तथा श्रोता की बुद्धि में पूर्व स्थित रहता है। यही कारण है कि उच्चरित होने पर दोनों अपने भावों का आदान-प्रदान सरलतापूर्वक कर सकते है। इस मान्यता की व्याख्या इस रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। आदि मानव ने जब किसी 'नवीन' वस्तु को देखा तो उसकी अपनी आवश्यकता, परिस्थिति और दृष्टिकोण के अनुकूल उसके मन पर उस वस्तु का प्रभाव पड़ा, तदुपरान्त उस प्रभाव के फलस्वरूप उसके मुख से जो ध्वनि स्फुटित हुई उसके अनुसार उस वस्तु का नाम पड़ गया। इसी तरह दूसरे व्यक्तियों पर उनकी अपनी परिस्थिति एवं दृष्टिकोण के अनुकूल अन्य प्रकार का प्रभाव पडने के कारण उस वस्तु के अन्य नाम पड़ गये, और अन्ततः स्वीकृत वही एक नाम हुआ अथवा कई नाम हुए जो समाज द्वारा किसी कारणवश प्रचलित हो गये। वैयाकरणों के अनुसार वस्तु का नाम अर्थात् उच्चरित शब्द तो ध्वनि (वर्णसमुदाय अथवा नाद) है, पर उस वस्तु का प्रभाव 'स्फोट-शब्द' कहाता है। अतः स्फोट पूर्ववर्ती है और ध्वनि परवर्ती। इसी ध्वनि के पुनः उच्चरित होने पर वह अपने 'स्फोट शब्द' को—जिसमें अर्थ-स्फुटन की क्षमता रहती है—प्रकट करती है।

इस प्रकार इन दोनों स्थितियों में स्फोट का पलड़ा भारी है। यदि ध्वनि आधार, कारण अथवा साधन है तो स्फोट आधेय, कार्य अथवा सिद्धि है। या यों कहिए कि कुल मिलाकर ध्वनि की स्थिति मध्यवर्ती है—स्फोट : ध्वनि : स्फोट। इस दृष्टि से भी स्फोट का पलड़ा भारी है। वैयाकरणो की यह मान्यता निस्सन्देह मनस्तोषक एव स्वीकार्य है। इसे स्वीकार किये बिना भाषा द्वारा विचारों का आदान-प्रदान सम्भव नहीं है। किन्तु स्फोट को 'नित्य' मानना व्याख्यापेक्ष है। नित्य वस्तु अनादि और अनन्त होती है। स्फोट को नित्य मानने का अभिप्राय यह नहीं है कि प्रत्येक शब्द सदा से अपने अर्थ को प्रकट करता चला आया है और करता चला जाएगा। किन्तु वस्तुतः 'नित्य' शब्द यहां लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। परमात्मा, आत्मा और प्रकृति (अथवा परमात्मा और आत्मा, अथवा केवल परमात्मा) के साथ 'नित्य' शब्द का जो वाच्य अर्थ अभिप्रेत है, वह यहां कदापि अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि, किसी शब्द के किसी अर्थ अथवा अर्थों के नियत होने से पूर्व वह शब्द किसी विशेष अर्थ का द्योतक न था, अतः तब तक वह स्फोट कहाने का अधिकारी भी नहीं था। उदाहरणार्थ, 'जल' यह वर्ण-समुदाय

जब तक किसी पदार्थ-विशेष का वाचक नहीं बना था, तब तक वह ध्वनिमात्र था, स्फोट नहीं था। इसी कारण इस स्थिति में उसे 'नित्य' नहीं मान सकते। इसके अतिरिक्त किसी शब्द के प्रचलित विशिष्ट अर्थ में किसी कारणवश प्रयुक्त न होने के कारण,[1] अथवा स्वयं किसी शब्द के ही लुप्त हो जाने के कारण[2] उपर्युक्त सम्बन्ध भी नष्ट हो जाएगा। हाँ, जब तक वह 'स्फोट' रहेगा, उसे नित्य माना जाएगा, अर्थात् उस शब्द से सदा उस अर्थ का प्रतीति होती रहेगी। अतः 'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है', इस वाक्य में 'नित्य' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

× × ×

इस धारणा के सम्बन्ध में आज भी व्याकरणनिष्ठ व्यक्ति की प्रमुख आपत्ति यह हो सकती है कि 'स्फोट' का वास्तविक अभिप्राय है—अर्थ-प्रत्यायन की शक्ति, न कि सार्थक शब्द। स्फोट को 'सार्थक शब्द' का पर्याय तो उपचार द्वारा मान लिया गया है। प्रत्येक शब्द में स्फोट अर्थात् अर्थ-प्रत्यायन की शक्ति सदा से विद्यमान है और सदा रहेगी। अतः स्फोट और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। कात्यायन-प्रस्तुत सूत्र '**सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे**' में 'शब्द' पद स्फोट का ही वाचक है—अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानना चाहिए। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त तीन प्रकार के शब्द लीजिए—

—'जल' शब्द किसी पदार्थ-विशेष के वाचक बनने से पूर्व भी उसी पदार्थ-विशेष का वाचक था—अर्थात् उसमें 'स्फोट' नामक शक्ति विद्यमान थी, किन्तु अज्ञानवश अथवा किसी अन्य कारणवश उसका मानव को ज्ञान न था। अतः शब्द (स्फोट) और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानना चाहिए।

—इसी प्रकार 'गवेषणा' शब्द में 'गो+एषणा' के अतिरिक्त 'अनुसन्धान' का अर्थ भी स्फोट रूप में विद्यमान था, जो कि बाद में चलकर प्रचलित हुआ।

—इसी प्रकार अवस्यु, बभ्रि, मृडीक आदि शब्द कभी स्फोट थे, पर बाद में अप्रचलित हो गये, किन्तु उनमें स्फोट अर्थात् अर्थ-प्रत्यायन की शक्ति अब भी विद्यमान है, यही शब्द अपने उन्हीं पूर्व अर्थों में अथवा किन्हीं नये अर्थों में भी प्रचलित हो सकते है।

अतः स्फोट (शब्द) और अर्थ का सम्बन्ध नित्य स्वीकार करना चाहिए। अज्ञानवश अथवा किसी अन्य कारणवश किसी शब्द का ज्ञान न होना, उसके अर्थ का ज्ञान न होना, अथवा उस शब्द का अप्रचलित हो जाना अथवा उसका अर्थ बदल जाना इस तथ्य का सूचक नहीं है कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध नित्य नहीं है, यह तो

---

१. उदाहरणार्थ—'गवेषणा' शब्द का वैदिक अर्थ—गो की एषणा (खोज), आधुनिक अर्थ खोज—अनुसंधान।

२. उदाहरणार्थ अनेक वैदिक शब्द संस्कृत भाषा में अप्रचलित हो गये—जैसे अवस्यु (रक्षक), बभ्रि (भरण-कर्ता), मृडीक (सुख), आदि।

नित्य है। केवल इतना ही नहीं, प्राचीन वैयाकरण तो शब्द और अर्थ की नित्यता क यह कारण भी स्वीकार करते हैं कि [संसार भर के] सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक बनने की क्षमता रखते हैं—अतः सभी अर्थों का सभी शब्दों के साथ सम्बन्ध है। ईश्वर का संकेत तो 'विशिष्ट शब्द का यही विशिष्ट अर्थ है' इसका प्रकाशक होता है।[1]

किन्तु हमारा विचार है कि यह सब कारण इसीलिए प्रस्तुत किये जाते है कि स्फोट को—या कहिए सार्थक शब्द को 'ब्रह्म' के उच्चतम धरातल पर अवस्थित कर दिया गया है। प्रत्येक ध्वनि सार्थक है—आज नहीं तो कल सही—ऐसे मन्तव्य वस्तुत: जितने अधिक आस्था पर आधारित है, उतने मनस्तोषक नहीं है। और यों भी, 'एकः शब्दः सकृद् एकार्थवाचकः' इस नियम की गहराई में उतर कर देखें तो यह धारणा कि प्रत्येक शब्द स्फोट है, अर्थात् उसमें अर्थ-प्रत्यायन की शक्ति विद्यमान है—खण्डित हो जाती है। 'गवेषणा' शब्द का वैदिक अर्थ अब लुप्त हो गया है, अतः इस शब्द मे इस अर्थ की स्फुटन-शक्ति अब भी स्वीकार करना निस्सन्देह व्यावहारिक एव मनस्तोषक नहीं है। अस्तु ! हमारे विचार में 'शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध है', यहां 'नित्य' का लक्ष्यार्थ ही ग्रहण करना चाहिए, न कि वाच्यार्थ। अस्तु !

(घ) शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध—

जैसा कि ऊपर कह आये हैं प्रमुख वैयाकरणों के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनिवार्य है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के कथनानुमार शब्द का प्रयोग अर्थ-बोध कराने के लिए ही किया जाता है। कात्यायन-प्रस्तुत 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' वार्तिक की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने कहा है कि शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध अर्थात् नित्य है। यहां अर्थ से तात्पर्य है आकृति न कि द्रव्य। आकृति का दूसरा नाम जाति अथवा शब्द का वाच्यार्थ है, और द्रव्य का दूसरा नाम लौकिक पदार्थ है। पतञ्जलि के अनुसार शब्द और आकृति में तो नित्य सम्बन्ध है; पर शब्द और द्रव्य में नित्य सम्बन्ध नहीं है।[2] उदाहरणार्थ, 'गौ' शब्द का द्रव्यमूलक अर्थ गाय नामक लौकिक पदार्थ तो नश्वर है, पर 'गौ' का आकृति-(जाति-) मूलक गाय रूप वाच्यार्थ अनश्वर है, क्योंकि किसी एक गाय के नष्ट हो जाने पर भी यह अर्थ अन्य गायों के साथ सम्बद्ध रहता है।[3] अतः आकृति नित्य है और द्रव्य अनित्य।

---

१. सर्वेषां शब्दाः सर्वार्थाभिधानसमर्थाः इति सर्वैरर्थैः सर्वेषां शब्दानां सम्बन्धः। ईश्वरसंकेतस्तु प्रकाशकः। अतएव नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः।

—वाक्यपदीय १.२३। वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा (नागेश), पृष्ठ ३६

२, ३. आकृतिर्हि नित्या, द्रव्यमनित्यम्। ××× नित्याऽऽकृतिः, कथम्? न च क्वचिद उपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति। द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते।

—महाभाष्य (पस्पशाह्निक), पृष्ठ २०

महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने इस नित्य सम्बन्ध के कारण पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि द्रव्य रूपी अर्थ के अनित्य रहने पर भी शब्द और जाति रूपी वाच्य अर्थ मे नित्य सम्बन्ध की स्वीकृति का एक ही कारण है—प्रत्येक उच्चरित शब्द मे अर्थबोधन की योग्यता, और शब्द की नित्यता के कारण उसकी यह अर्थबोधन-योग्यता भी नित्य है, दूसरे शब्दों में शब्द की नित्यता के साथ-साथ अर्थ भी स्वत नित्य है।[1] इसी नित्यता के बल पर भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो रूप बताते हुए इन्हें परस्पर अपृथग्भाव से स्थित अर्थात् अभिन्न माना है—

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ। —वाक्यपदीय २.३१

शब्द तथा अर्थ और संस्कृत के काव्याचार्य—इधर संस्कृत का काव्यशास्त्री भी वैयाकरणों के उपर्युक्त सिद्धान्तों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। अनेक आचार्यों ने शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को स्वाकार किया है। भरत के अनुसार नाटक (काव्य) मृदु एवं ललित पदों और अर्थो से युक्त होना चाहिए।[2] भामह ने शब्द और अर्थ के सहितभाव को काव्य की संज्ञा दी है; और रुद्रट ने शब्दार्थ को।[3] मम्मट ने स्वसम्मत काव्य-लक्षण में काव्य का स्वरूप शब्दार्थ पर आधारित किया है,[4] और राजशेखर, विश्वनाथ आदि ने काव्यपुरुष-रूपक में शब्दार्थ को ही काव्य का शरीर बताया है।[5] दण्डी और जगन्नाथ ने काव्य-लक्षणों में शब्द और अर्थ को यदि पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किया है तो संग्रहकार व्याडि के अनुसार सम्भवत: इसका यह समाधान किया जा सकता है कि शब्द और अर्थ अभिन्न होते हुए भी यदि पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किये जाते हैं तो इसका कारण लौकिक व्यवहार ही है, पर वस्तुत: वे अभिन्न और एकरूप में अवस्थित हैं—

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यत: शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम्॥

—वा० पा० (१.२६) की वृत्ति में उद्धृत

इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रियों पर स्फोटवादियों का एक अन्य प्रभाव है—ध्वनि नामक काव्य-तत्त्व की स्वीकृति। किन्तु वस्तुत: यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष

---

१. यदा कदा शब्द उच्चरित: तदाऽर्थाकारा बुद्धिरुपजायते इति प्रवाहनित्यत्वादर्थस्य नित्यत्वम् इत्यर्थ:। —महाभाष्य-टीका (तिमिरनाशक यन्त्रालय) पृ० १६

२. मृदुललितपदार्थ.........................।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणम्॥ ना० शा० १७.१२३

३. (क) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्यालंकार (भामह) १.१६
(ख) ननु शब्दार्थौ काव्यम्। काव्यालंकार (रुद्रट) २.१

४ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि। काव्यप्रकाश १म उ०

५ काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् सा० द० तथा का० मी०

है। स्फोटवादियों ने उच्चार्यमाण 'शब्द' अर्थात् ध्वनि अथवा नाद को, जैसा कि पहले कह आये है, व्यंजक माना है और स्फोट को व्यंग्य। इधर काव्यशास्त्रियों ने व्यंजक शब्द और व्यंजक अर्थ दोनों को 'ध्वनि' की संज्ञा दी है। स्वयं मम्मट ने ही इस अप्रत्यक्ष प्रभाव की चर्चा की है—

बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि[1] न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यंजनक्षमस्य शब्दार्थ-युगलस्य। —का० प्र० १.४ (वृत्ति)

वस्तुतः ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों का 'ध्वनि' शब्द केवल उक्त दो अर्थों तक ही सीमित नहीं है, इसके तीन अर्थ और भी हैं—व्यंजना शक्ति, व्यंग्यार्थ और व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य।

निष्कर्ष यह कि काव्यशास्त्रियों ने 'ध्वनि' शब्द लिया तो वैयाकरणों से है, पर अपने शास्त्रानुसार इसका बहुविध प्रयोग किया है। दोनों के सिद्धान्तों में शब्द-साम्य होते हुए भी अन्तर स्पष्ट है—वैयाकरण नाद अथवा शब्द रूप व्यंजकों को 'ध्वनि' नाम से पुकारते हैं और व्यंग्य को 'स्फोट' नाम से। इधर काव्यशास्त्री शब्द और अर्थ रूप व्यंजकों को भी ध्वनि कहते है और इसके व्यंग्यार्थ को भी। वैयाकरणों की 'ध्वनि' व्यजक है, पर काव्यशास्त्रियों की 'ध्वनि' अपने विभिन्न अर्थों के कारण पंचरूपात्मक है। इसके पांच अर्थ हैं—व्यंजना शब्दशक्ति, व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंग्य अर्थ और व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य।[2]

निष्कर्ष

उपर्युक्त समग्र विवेचन का निष्कर्ष इन शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. साधारण बोलचाल अथवा साहित्य में सार्थक शब्द का प्रयोग होता है, निरर्थक शब्द का नहीं। अतः सार्थक शब्दावली का नाम भाषा अथवा वाणी है, और गुणगान भी इसी का किया गया है।

२. शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है।

३. वैयाकरण शब्द के दो रूप मानते हैं—ध्वन्यात्मक और स्फोटात्मक। उच्चार्यमाण एवं श्रूयमाण शब्द ध्वन्यात्मक कहाता है, और शब्द का अनादिकाल से आगत रूप स्फोट।

---

१. वस्तुतः 'तन्मतानुसारी' शब्द भ्रामक है। काव्यशास्त्री इस सम्बन्ध में वैयाकरणों के पूर्णतः अनुकारी नहीं हैं, जैसा कि स्वयं मम्मट ने यही स्वीकार किया है।

२. तथा च तथाविधः शब्दवाच्यव्यंग्यव्यंजनसमुदायात्मकः काव्यविशेषो ध्वनिरिति कथित बालप्रिया पृ० १०६

४. शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है । यहां शब्द से तात्पर्य है—स्फोटात्मक शब्द, संक्षेप में कहें तो 'स्फोट'। स्फोट उस शब्द को कहते हैं जो अर्थ-स्फुटन मे समर्थ हो, और नित्य शब्द यहां लाक्षणिक रूप में ही प्रयुक्त हुआ है ।

५. इसी नित्य-सम्बन्ध को काव्याचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

६. वैयाकरणों के 'ध्वनि' और काव्याचार्यों के 'ध्वनि' नामक तत्त्व में किंचित् अन्तर है । उधर ध्वनि शब्द केवल एक 'नाद' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इधर व्यंजना-शक्ति, व्यंग्य, आदि पाच विभिन्न अर्थों में ।

शब्दशक्ति का स्रोत : व्याकरण

शब्दशक्ति के प्रमुख तीन भेदों—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में से प्रथम दो शक्तियों के स्रोत व्याकरण-ग्रन्थों मे प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से प्राप्त है, परन्तु मम्मट से पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रंथों में व्यंजना शब्दशक्ति से सम्बद्ध ऐसे संकेत प्रत्यक्ष अथवा स्पष्ट रूप से प्राय: प्राप्त नही होते, जिन्हें काव्यशास्त्र में प्रतिपादित व्यंजना शक्ति का मूल स्रोत माना जा सके। हॉं, मम्मट के उपरान्त वैयाकरणों ने इस शक्ति की आवश्यकता का अनुभव किया है। नागेश जैसे सुप्रसिद्ध वैयाकरण ने न केवल व्यंजना का स्वरूप काव्यशास्त्रानुकूल निर्दिष्ट किया है, अपितु इसे व्याकरणशास्त्र का भी एक आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया है ।[1]

(क) अभिधा—अभिधा शक्ति से सम्बद्ध प्राय: सभी प्रसंग व्याकरण-ग्रन्थों मे उपलब्ध है । उदाहरणार्थ—

१. भर्तृहरि के शब्दों में अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) का सम्बन्ध अभिधा (नामक शक्ति) के द्वारा नियमबद्ध किया जाता है ।[2]

२. काव्यशास्त्रियों ने अभिधामूला व्यंजना के प्रसंग में अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ में नियंत्रक सयोग, विप्रयोग आदि १४ कारणों का उल्लेख किया है, उनका सर्व-प्रथम स्रोत वाक्यपदीय में उपलब्ध है ।[3]

---

१. स्फोटस्य च व्यंग्यता (भर्तृ-) हर्यादिभिरुक्तैव । द्योतकत्वं च समभिव्याहृतपद-व्यंजकत्वमेव—इति वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यक: ।
—वै० सि० मं०, पृष्ठ १६०

२. क्रियाव्यवेत: सम्बन्धो दृष्ट: करणकर्मणो: ।
अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययो : ।। वा० प० २.४०८

३ वा० प० १ ३१७ ३१८

३. अभिधेयार्थ मुख्यत: लोक-व्यवहार से जाना जाता है, इसका स्रोत महाभाष्य मे अनेक स्थलों पर उपलब्ध है।[१]

४. संकेतित शब्द के चार भेदों—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (द्रव्य) का उल्लेख भी महाभाष्य में किया गया है। स्वयं मम्मट ने इस सम्बन्ध मे उनका आभार स्वीकार किया है।[२]

(ख) **लक्षणा**—इसी प्रकार लक्षणा शक्ति के विषय मे भी व्याकरण-ग्रन्थों मे सकेत मिल जाते है। उदाहरणार्थ, पतजलि ने पाणिनि के सूत्र '**पुंयोगादाख्यायाम्**' (अष्टा० ४,१,४८) की स्वप्रस्तुत व्याख्या में प्रसंगवशात् एक प्रश्न उपस्थित किया है कि दो भिन्न पदार्थो में अभिन्नता अथवा तादात्म्य सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है। इसके उत्तर में उन्होंने चार प्रकारों का निर्देश किया है—

(१) तात्स्थ्य—जैसे मचान हसते है;

(२) ताद्धर्म्य—जैसे ब्रह्मदत्त जटी है;

(३) तत्सामीप्य—जैसे गंगा में घोष है;

(४) तत्साहचर्य—जैसे कुन्तों को अन्दर भेज दो।[३]

मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत लक्षणा शक्ति के प्रकरण में न केवल उक्त संकेतों का आधार ग्रहण किया गया है, अपितु उदाहरण भी इसी प्रसंग से लिये गये है।

शब्दशक्ति और संस्कृत-काव्यशास्त्र—संस्कृत-काव्यशास्त्र में शब्दशक्तियों का सर्वप्रथम एकत्र, व्यवस्थित, विशद तथा संग्रहात्मक निरूपण मम्मट ने अपने ग्रथ 'काव्य-प्रकाश' में प्रस्तुत किया है। उनका 'शब्दव्यापार-विचार' भी इसी विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि मम्मट से पूर्व आनन्दवर्द्धन 'ध्वन्यालोक' में, तथा मुकुलभट्ट 'अभिधावृत्तिमातृका' में इन पर प्रकाश डाल चुके थे, पर इन ग्रन्थों मे एक-साथ सम्पूर्ण सामग्री संगृहीत नहीं हुई। ध्वन्यालोक में ध्वनि (व्यंजना शक्ति) और तत्सम्बद्ध व्यग्यार्थ का ही विशद विवेचन है; शेष दो शक्तियों की प्रसंगवश अनेक स्थलों पर चर्चामात्र कर दी गयी है।[४] अभिधावृत्तिमातृका में एक तो व्यजना को लक्षणा का

---

१ उदाहरणार्थ—'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।"

—म० भा० १म आ०, पृ० १७

२. (क) म० भा० २य आ०, पृ० ३७

(ख) **गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः इति महा-भाष्यकारः।** का० प्र०, २य उ०, पृष्ठ ३६

३. रसगंगाधर, नागेश-कृत टीका-भाग पृ० २७२

४ ध्वन्या० ३ ३३ तथा वृत्तिभाग

ही एक रूप माना गया है;[1] और दूसरे, लक्षणा को भी अभिधा का ही रूपान्तर माना गया है। हाँ, काव्यप्रकाशकार ने इन दोनों ग्रंथों से पूर्ण सहायता अवश्य ली है। उदाहरणार्थ, व्यजना के स्वरूप तथा कुछ-एक व्यजना-विरोधी मतों के खण्डन के लिए वे आनन्दवर्द्धन के ऋणी हैं[2]; और अभिधा-प्रसग-गत संकेत के जाति आदि चार भेदों, लक्षणा के विभिन्न भेदों तथा तात्पयार्थ वृत्ति के शास्त्रीय निरूपण के लिए वे मुकुल भट्ट के ऋणी हैं। इसी प्रकार अभिनवगुप्त-रचित दोनों टीकाओं—लोचन और अभिनवभारती से भी मम्मट ने सहायता ली है, तथा ध्वनि के विरोधी आचार्यों से भी। पर इस सब विपुल सामग्री को सर्वप्रथम व्यवस्थित सचयन का रूप देने का श्रेय इन्ही को है। यही कारण है कि इस दिशा में संस्कृत के भावी आचार्य, विशेषतः विश्वनाथ, इनके ऋणी हैं। अस्तु !

आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रंथों में ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि अभिधा आदि तीनों शक्तियों की सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं सूक्ष्म विवेचना से भले ही आचार्य परिचित न हों, पर इनके बाह्य रूप से ये अवश्य अवगत थे। उदाहरणार्थ—

(१) अभिधा—उद्भट ने भामह की एक कारिका (का० अ० १.९) की व्याख्या करते हुए शब्द के अर्थबोधन में समर्थ व्यापार को अभिधान या अभिधा नाम दिया है। इसके इन्होंने दो भेद माने हैं—मुख्य और गौण—

शब्दानामभिधान अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।

—ध्व० लो०, पृ० ३२

निस्सन्देह यहाँ 'मुख्य' शब्द का तात्पर्य वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) है, और 'गौण' शब्द का तात्पर्य लक्ष्यार्थ है।

आगे चल कर आनन्दवर्द्धन के समकालीन आचार्य रुद्रट ने 'अभिधा' शक्ति और 'वाचक' शब्द का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है, तथा शब्द के चार विभागों की गणना की है—

अर्थः पुनरभिधावान् प्रवर्त्तते यस्य वाचकः शब्दः।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः॥

—का० अ० (रु०) ७.१

---

१. लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्। —अ० वृ० मा०, १२—वृत्ति।

२. ध्वन्या० १.७, १४, १६, १७, १८

(२) **लक्षणा**—वामन ने वक्रोक्ति अलंकार का स्वरूप सादृश्यमूला लक्षणा पर निर्धारित किया है ।[१] इनसे पूर्ववर्ती दण्डी ने भी एक स्थल पर 'लक्ष्यते' क्रिया का प्रयोग किया है, (का० आ० १.९८) जिससे प्रतीत होता है, वे लक्षणा शक्ति के स्वरूप से थोड़ा-बहुत अवश्य परिचित होंगे ।

(३) **व्यंजना** (ध्वनि)—ध्वनि शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में जिन पांचों अर्थों में किया गया है उनमें से दो अर्थ हैं व्यंजना शब्दशक्ति और व्यंग्यार्थ । ध्वनि के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन से पूर्व यद्यपि किसी भी आचार्य ने ध्वनि, व्यंजना और व्यंग्यार्थ में से किसी भी शब्द का अपने ग्रंथों में प्रयोग नहीं किया, तथापि उनके विभिन्न स्थलों में ज्ञात होता है कि वे 'ध्वनि' शब्द से न सही, 'ध्वनि-तत्त्व' से अवश्य अवगत थे । अलंकारवादी आचार्यों भामह, दण्डी और उद्भट ने रसवद्, प्रेयस्वद्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों में 'रसध्वनि' को स्पष्टतः समाविष्ट किया ही है, साथ ही कुछ अन्य अलंकारों के लक्षणों में ध्वनि के मूलभूत तत्त्व—एक अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति—का समावेश करके उन्होंने ध्वनि अथवा व्यंजना से परिचिति दिखायी है । उदाहरणार्थ, भामह-प्रस्तुत प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति और पर्यायोक्त अलंकार, दण्डिसम्मत व्यतिरेक और पर्यायोक्त अलंकार, तथा उद्भट-सम्मत पर्यायोक्त अलंकार द्रष्टव्य हैं । इसी प्रकार रुद्रट-प्रस्तुत रूपक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के लक्षणों में भी व्यंजना के बीज निहित है ।[२]

आनन्दवर्द्धन—इस प्रकार आनन्दवर्द्धन से पूर्व ध्वनि (व्यंजना) के तत्त्व विभिन्न अलंकारों में उपलब्ध हो जाते हैं, परन्तु आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को महाविषयीभूत तत्त्व स्वीकार करते हुए अलंकार को ही ध्वनि से सम्बद्ध कर दिया ।[3] आनन्दवर्द्धन को ध्वनि (व्यंजनाशक्ति-जन्य व्यंग्यार्थ) नामक काव्यतत्त्व के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया जाता है, किन्तु उन्होंने कई बार यह उल्लिखित किया है कि उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि और उसके भेदों का निरूपण किया है ।[४] इतना ही नहीं, ध्वनि-सिद्धान्त पर उनके समय में विद्वद्गोष्ठियों में सम्भवतः इतनी अधिक चर्चा होती होगी कि इस सिद्धान्त के विरोधी भी उत्पन्न हो गये होंगे, जिनका खण्डन आनन्दवर्द्धन को अपने ग्रंथ के आरम्भ में करना पड़ा होगा । वे विरोधी थे—अभाववादी, भाक्त और अलक्षणीयतावादी ।[५]

---

१. **सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः** । का० सू० ४.३.८

२, ३. इस सम्बन्ध में आगे देखिए 'ध्वनि' प्रकरण (द्वितीय अध्याय), ध्वनि-विरोधी आचार्य ।

४. देखिए द्वितीय अध्याय ।

५. **तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।**
केचिद वाचां [illegible] ।

का इस र काव्यशास्त्र में तीनों शब्दशक्तियों का प्रतिपादन स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से होता रहा।

शब्द-शक्ति : लक्षण तथा भेदोपभेद

वाक्य में प्रयुक्त सार्थक शब्द के अर्थबोधक व्यापार के मूल कारण को शब्द-शक्ति कहते हैं। संक्षेप में इसे शक्ति भी कहते हैं।

इसके तीन भेद हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कुछ आचार्य शब्दशक्ति का एक अन्य भेद भी मानते हैं, तात्पर्यवृत्ति।[1]

उक्त तीन शक्तियों के अनुसार तीन शब्द माने गये हैं—वाचक, लक्षक और व्यञ्जक, और अर्थ भी तीन माने गये हैं– वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। यहाँ यह उल्लेख्य है कि उक्त वाचक आदि तीनों शब्द के रूप हैं, इसके प्रभाग अथवा भेद नहीं हैं, क्योंकि एक ही शब्द, उपाधि-भेद से, अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार, कभी केवल वाचक कहाता है, कभी वाचक और लक्षक दोनों, और कभी वाचक, लक्षक और व्यंजक तीनों।

(क) अभिधा

अभिधा शक्ति—प्रसिद्ध अर्थ अथवा साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार [के मूल कारण] को अभिधा शब्दशक्ति कहते हैं।[2]

वाचक शब्द—जो मुख्य अर्थ अथवा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराता है उसे वाचक शब्द कहते हैं, और स्पष्ट शब्दों में कहें तो जिस शब्द का अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञात होता है उसे वाचक शब्द कहते हैं। इसे संकेतित शब्द भी कहते हैं।[3]

वाच्यार्थ—किसी (वाचक) शब्द का अभिधा शब्द-शक्ति द्वारा ज्ञात अर्थ वाच्यार्थ कहाता है। वाच्यार्थ से तात्पर्य है किसी शब्द का निश्चय अथवा साक्षात् संकेतित अर्थ।[4]

वाच्यार्थ के अन्य नाम हैं—साक्षात्-संकेतित अर्थ, मुख्यार्थ अथवा प्रसिद्धार्थ।

---

१. **तात्पर्याख्योऽपि केषुचित्**। काव्यप्रकाश २.६

२ **तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमा अभिधा**। सा० द० २.४

३ 'वाचक शब्द और उसके प्रकार' के लिए देखिए पृष्ठ २७।

४ किसी शब्द से जो संकेत किया जाता है वह दो प्रकार का होता है—साक्षात् और परम्परा-सम्बद्ध। उदाहरणार्थ **'हम गोवर्द्धन पर घूमने गये'** यहां गोवर्द्धन शब्द एक पर्वत विशेष का द्योतक है, और यह अर्थ गोवर्द्धन शब्द का साक्षात्-संकेतित

अभिधा शब्दशक्ति के प्रकरण मे निम्नोक्त दो प्रसंगो पर प्रकाश डालना अपेक्षित है—संकेतग्रहण, तथा अभिधा शब्दशक्ति का क्षेत्र।

संकेत-ग्रहण—

[वाचक] शब्द और [वाच्य] अर्थ के सम्बन्ध-ज्ञान को संकेत-ग्रहण कहते है। यह संकेत-ग्रहण निम्नोक्त कारणों से होता है—व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त वाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, वाक्य-शेष, विवृत्ति (विवरण, व्याख्या अथवा टीका) आदि।

इन कारणों में से सर्वप्रमुख कारण 'व्यवहार' को समझना चाहिए, क्योंकि अधिकांशतः इसके द्वारा ही किसी भी भाषा से अनभिज्ञ कोई शिशु अथवा बालक भाषा बोलना सीखता है। कोई विदेशी व्यक्ति भी अधिकांशतः इसी के द्वारा ही किसी अन्य भाषा को सरलतापूर्वक सीख सकता है। व्यवहार के उपरान्त दूसरा स्थान 'आप्त वाक्य' का है—'कोष' और 'विवृत्ति' भी वस्तुतः एक प्रकार के आप्त वाक्य ही हैं। अस्तु!

अभिधा शब्दशक्ति का क्षेत्र—

अभिधा शब्दशक्ति मुख्यार्थ तक सीमित है, चाहे कोई वाचक शब्द एकार्थक हो अथवा अनेकार्थक।

(१) एकार्थक शब्दो का मुख्यार्थ नियत रहता है, अतः उनके विषय में किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं है।

(२) अनेकार्थक शब्द के विषय में सन्देह हो सकता है कि कवि को केवल एक अर्थ अभीष्ट है अथवा दोनों अभीष्ट हैं। अनेकार्थक शब्द दो स्थलों में प्रयुक्त होते हैं—श्लिष्ट और अश्लिष्ट।

है। गोवर्द्धन पर्वत के पार्श्ववर्ती ग्राम को भी गोवर्द्धन कहते है। 'वह गोवर्द्धन के बाजार से खाद्य-सामग्री लेने गया है' यहां 'गोवर्द्धन' शब्द का ग्राम-विशेष अर्थ साक्षात्-संकेतित नहीं है, परम्परा-सम्बद्ध है। वाचक शब्द साक्षात्-संकेतित अर्थ को ही बताता है। परम्परा सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान लक्षणा शक्ति द्वारा होता है। इसी प्रकार 'गंगा पर आश्रम है', इस वाक्य में गंगा शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ है नदी विशेष, यह अभिधा का विषय है, और गंगा' शब्द का परम्परा-सम्बद्ध अर्थ है गंगा तट, यह अभिधा का विषय न होकर लक्षणा का विषय है।

१ इस सम्बन्ध में देखिए, पृष्ठ ३१

(क) श्लेष अलंकार के प्रसंग में कवि को एक से अधिक अर्थ अभीष्ट रहते हैं। अतः सभी अर्थ वाच्यार्थ कहाते है और सभी अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञात माने जाते हैं। उदाहरणार्थ :

है पूतनामारण में सुदक्ष, जघन्य काकोदर था विपक्ष।
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु, शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु ।।[1]

यहा कवि को राम और कृष्ण दोनों पक्षों के अर्थ एक-समान अभीष्ट है। अतः दोनों अर्थ वाच्यार्थ हैं तथा अभिधा द्वारा बोधित होते हैं। इसी प्रकार—

करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद ?
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद ।।[2]

—मैथिलीशरण गुप्त

इस पद में कवि मैथिलीशरण गुप्त को 'मानस' और 'महावीर' के दोनों अर्थ अभीष्ट हैं। अतः यह क्षेत्र भी अभिधा शब्दशक्ति का है।

श्लेष अलंकार के प्रसंग मे नैषधीयचरित से निम्नोक्त पद्य उल्लेख्य है, जिसमें शब्द के धनी श्री हर्ष ने एक-साथ पांच अर्थों को वाच्यार्थ के रूप में प्रस्तुत किया है—इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण और नल के पक्ष में—

देवः पतिर्विदुषि ! नैषधराजगत्या
निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो
यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ॥ नै० च० १३.३४

(ख) अश्लिष्ट स्थलों में भी जहां अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वहा अभीष्ट (वाच्य) अर्थ केवल एक ही रहता है। कौन-सा अर्थ अभीष्ट है इसके निर्णय के लिए निम्नोक्त १४ 'एकार्थ-नियामक हेतु' प्रस्तुत किये गये हैं—

---

१. राम के पक्ष में—पूतनामा, रण में सुदक्ष।
काकोदर—इन्द्र का पुत्र : जयन्त।
कृष्ण के पक्ष में—पूतना-मारण में सुदक्ष।
काकोदर—कालीय सर्प।

२. मानस—रामचरितमानस, मन। महावीर—हनुमान्, महावीरप्रसाद द्विवेदी।

संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर आदि ।[1]

कतिपय उदाहरण लीजिए :

संयोग—शंख, चक्र से युक्त हरि । (शंख और चक्र के संयोग से 'हरि' शब्द का निर्णीत अर्थ 'विष्णु' है, अश्व, सिंह, कपि आदि नहीं ।)

विप्रयोग—शंख, चक्र से रहित हरि । (यहां भी हरि शब्द विष्णु शब्द का ही वाचक है ।)

साहचर्य—राम तथा लक्ष्मण वन को गये । (राम शब्द दशरथ-पुत्र का वाचक है, परशुराम का नहीं ।)

विरोधिता—लक्ष्मण ने राम पर वाक्य-प्रहार किये । (यहां राम शब्द परशुराम का वाचक है, दशरथ-पुत्र का नहीं ।)

उक्त १४ आधारों में से 'प्रकरण' को सर्वप्रमुख समझना चाहिए । प्रकरण कहते हैं वक्ता और श्रोता की बुद्धिस्थता को । उदाहरणार्थ, किसी कवि का अपने आश्रयदाता से कहना 'देव ! सब कुछ जानते हैं', इस कथन में 'देव' का अभिप्राय उस राजा से है, न कि किसी देवता से है । वस्तुतः 'प्रकरण' में ही शेष सभी आधार अन्तर्भूत हो जाते हैं ।

इस प्रकार अभिधा शक्ति का क्षेत्र तीन रूपों तक सीमित है, जिनमें से एक रूप एकार्थक वाचक शब्दों का है और दो रूप अनेकार्थक शब्दों के हैं ।

इन तीन रूपों के अतिरिक्त एक अन्य रूप भी होता है जिसमें अनेकार्थक वाचक शब्द का एक वाच्यार्थ तो प्रसंगानुकूल कवि को अभीष्ट रहता है, साथ ही उसका व्यंग्यार्थ भी उसे अपेक्षित रहता है । स्पष्टतः, ऐसे स्थल अभिधा शक्ति के क्षेत्र से बाहर के हैं, ये अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये जाते हैं, जिसकी चर्चा आगे यथास्थान की जा रही है ।[2]

× × ×

अभिधा शब्दशक्ति के प्रकरण में दो अन्य प्रसंग विवेच्य हैं—संकेतग्रह किसका होता है, तथा वाचक शब्द कितने प्रकार का है ? ये दोनों प्रसंग वस्तुतः परस्पर-सम्बद्ध हैं ।

---

१. —'आदि' से तात्पर्य है—अभिनय तथा इसी प्रकार के अन्य आधार । अभिनय का उदाहरण—'इतना बड़ा सर्प !' अभिनय द्वारा 'इतना' शब्द कुछ सीमा तक अभीष्ट अर्थ का द्योतक बन जाता है ।
—अन्तिम 'स्वर' नामक आधार हिन्दी-काव्य में सहायक नहीं होता । वस्तुतः इसका विषय वैदिक संस्कृत है, संस्कृत भी नहीं है ।

२. देखिए, पृष्ठ ५२

(library stamp)

संकेत-ग्रह किसका ?

पीछे निर्दिष्ट किया गया है कि जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को बताता है उसे वाचक कहते हैं। संकेत-ग्रह से तात्पर्य है साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध। वाचक शब्द से अभिधा द्वारा जो संकेत-ग्रह होता है वह किसका होता है—जाति का अथवा व्यक्ति का। जाति से तात्पर्य है वह सामान्य भाव जो अनेक पदार्थों में पाया जाता है। व्यक्ति से तात्पर्य है—पदार्थ-विशेष। 'गौ लाओ' इस वाक्य में 'गौ' व्यक्ति है, और 'गौ' में गोत्व जाति है। प्रश्न है कि संकेत-ग्रह किसमें होता है। इस सम्बन्ध में पांच सिद्धान्त प्रस्तुत हैं—

१. जातिवाद—

'गो' आदि किसी शब्द को सुनते ही अभिधा शक्ति द्वारा संकेत-ग्रह जाति का होता है, व्यक्ति का नहीं। यह मत मीमांसकों का है।[1] इसी प्रसंग में वे जातिवादी कहाते हैं। उनका अभिप्राय है कि 'गौ' शब्द से हम गौओं में पायी जाने वाली जाति 'गो-सामान्य' का ही अर्थ लेंगे, न कि किसी विशेष गौ—लाल, काली, श्वेत आदि, का। जाति कहते हैं 'सामान्य' को।

'सामान्य' का एक लक्षण है—**अनुवृत्ति-प्रत्ययहेतुः सामान्यम्**। अनुवृत्ति (अनुगत) अर्थात् एकाकार-प्रतीति का हेतु सामान्य अथवा जाति कहाता है। इसका अभिप्राय यह है कि अनेक गौओं को यदि गौ कहा जाता है तो इसका कारण यह है कि उन सब में एकाकार-प्रतीति का हेतु अर्थात् गोत्व विद्यमान है। मीमांसकों के अनुसार 'गौ लाओ' इस वाक्य में 'गौ' शब्द के सुनते ही संकेत-ग्रह गोत्व जाति में होता है।

'सामान्य' का दूसरा लक्षण है—**नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्**। अर्थात् सामान्य नित्य होता है और अनेक पदार्थों में समवेत धर्म वाला होता है। उदाहरणार्थ—संसार भर की प्रत्येक गौ में गोत्व धर्म नित्य रूप से विद्यमान रहता है, तथा यह समवेत रूप से रहता है, अर्थात् कहीं ऐसा नहीं होगा कि 'गौ' में गोत्व के साथ-साथ अश्वत्व, अजत्व आदि अन्य जाति (सामान्यता) भी हो। अस्तु! मीमांसकों के अनुसार संकेत-ग्रह जाति में होता है।[2]

किन्तु फिर भी, व्यवहार में तो जाति का ग्रहण न होकर व्यक्ति का ही ग्रहण होता है। जाति सूक्ष्म है, और व्यक्ति स्थूल। व्यवहार में सूक्ष्म का ग्रहण न

---

१. **मीमांसकास्तु गवादिपदानां जातिरेव वाच्या, न तु व्यक्तिः।**
—शक्तिवाद (परिशिष्ट काण्ड), पृ० १९५

२. मीमांसकों की इस मान्यता को अस्वीकार करते हुए वैयाकरण जात्यादि में संकेत-ग्रह स्वीकार करते हैं। प्रसंगवश यहां 'जातिवाद' पर भी अन्य प्रकाश डाला जा रहा है। देखिए पृ० ३६, ४२

संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर आदि।[1]

कतिपय उदाहरण लीजिए :

संयोग—शंख, चक्र से युक्त हरि। (शंख और चक्र के संयोग से 'हरि' शब्द का निर्णीत अर्थ 'विष्णु' है, अश्व, सिंह, कपि आदि नहीं।)

विप्रयोग—शंख, चक्र से रहित हरि। (यहां भी हरि शब्द विष्णु शब्द का ही वाचक है।)

साहचर्य—राम तथा लक्ष्मण वन को गये। (राम शब्द दशरथ-पुत्र का वाचक है, परशुराम का नहीं।)

विरोधिता—लक्ष्मण ने राम पर वाक्य-प्रहार किये। (यहां राम शब्द परशुराम का वाचक है, दशरथ-पुत्र का नहीं।)

उक्त १४ आधारों में से 'प्रकरण' को सर्वप्रमुख समझना चाहिए। प्रकरण कहते है वक्ता और श्रोता की बुद्धिस्थता को। उदाहरणार्थ, किसी कवि का अपने आश्रयदाता से कहना 'देव ! सब कुछ जानते हैं', इस कथन में 'देव' का अभिप्राय उस राजा से है, न कि किसी देवता से है। वस्तुतः 'प्रकरण' में ही शेष सभी आधार अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इस प्रकार अभिधा शक्ति का क्षेत्र तीन रूपों तक सीमित है, जिनमें से एक रूप एकार्थक वाचक शब्दों का है और दो रूप अनेकार्थक शब्दों के है।

इन तीन रूपों के अतिरिक्त एक अन्य रूप भी होता है जिसमें अनेकार्थक वाचक शब्द का एक वाच्यार्थ तो प्रसंगानुकूल कवि को अभीष्ट रहता है, साथ ही उसका व्यंग्यार्थ भी उसे अपेक्षित रहता है। स्पष्टतः, ऐसे स्थल अभिधा शक्ति के क्षेत्र से बाहर के हैं, ये अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये जाते हैं, जिसकी चर्चा आगे यथास्थान की जा रही है।[2]

× × ×

अभिधा शब्दशक्ति के प्रकरण में दो अन्य प्रसंग विवेच्य हैं—संकेतग्रह किसका होता है, तथा वाचक शब्द कितने प्रकार का है ? ये दोनों प्रसंग वस्तुतः परस्पर-सम्बद्ध हैं।

---

१. —'आदि' से तात्पर्य है—अभिनय तथा इसी प्रकार के अन्य आधार। अभिनय का उदाहरण—'इतना बड़ा सर्प !' अभिनय द्वारा 'इतना' शब्द कुछ सीमा तक अभीष्ट अर्थ का द्योतक बन जाता है।
—अन्तिम 'स्वर' नामक आधार हिन्दी-काव्य में सहायक नही होता। वस्तुतः इसका विषय वैदिक संस्कृत है, संस्कृत भी नहीं है।

२. देखिए, पृष्ठ ५२

संकेत-ग्रह किसका ?

पीछे निर्दिष्ट किया गया है कि जो साक्षात् संकेतित अर्थ को बताता है उसे वाचक कहते हैं । संकेत-ग्रह से तात्पर्य है साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध । वाचक शब्द से अभिधा द्वारा जो संकेत-ग्रह होता है वह किसका होता है—जाति का अथवा व्यक्ति का । जाति से तात्पर्य है वह सामान्य भाव जो अनेक पदार्थों में पाया जाता है । व्यक्ति से तात्पर्य है—पदार्थ-विशेष । 'गौ लाओ' इस वाक्य में 'गौ' व्यक्ति है, और 'गौ' में गोत्व जाति है । प्रश्न है कि संकेत-ग्रह किसमें होता है । इस सम्बन्ध में पांच सिद्धान्त प्रस्तुत हैं —

१. जातिवाद—

'गो' आदि किसी शब्द को सुनते ही अभिधा शक्ति द्वारा संकेत-ग्रह जाति का होता है, व्यक्ति का नहीं । यह मत मीमांसकों का है ।[1] इसी प्रसंग में वे जातिवादी कहाते हैं । उनका अभिप्राय है कि 'गौ' शब्द से हम गौओं में पायी जाने वाली जाति 'गो-सामान्य' का ही अर्थ लेंगे, न कि किसी विशेष गौ—लाल, काली, श्वेत आदि, का । जाति कहते हैं 'सामान्य' को ।

'सामान्य' का एक लक्षण है—**अनुवृत्ति-प्रत्ययहेतुः सामान्यम्** । अनुवृत्ति (अनुगत) अर्थात् एकाकार-प्रतीति का हेतु सामान्य अथवा जाति कहाता है । इसका अभिप्राय यह है कि अनेक गौओं को यदि गौ कहा जाता है तो इसका कारण यह है कि उन सब में एकाकार-प्रतीति का हेतु अर्थात् गोत्व विद्यमान है । मीमांसकों के अनुसार 'गौ लाओ' इस वाक्य में 'गौ' शब्द के सुनते ही संकेत-ग्रह गोत्व जाति में होता है ।

'सामान्य' का दूसरा लक्षण है—**नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्** । अर्थात् सामान्य नित्य होता है और अनेक पदार्थों में समवेत धर्म वाला होता है । उदाहरणार्थ—संसार भर की प्रत्येक गौ में गोत्व धर्म नित्य रूप से विद्यमान रहता है, तथा यह समवेत रूप से रहता है, अर्थात् कहीं ऐसा नहीं होगा कि 'गौ' में गोत्व के साथ-साथ अश्वत्व, अजत्व आदि अन्य जाति (सामान्यता) भी हो । अस्तु ! मीमांसकों के अनुसार संकेत-ग्रह जाति में होता है ।[2]

किन्तु फिर भी, व्यवहार में तो जाति का ग्रहण न होकर व्यक्ति का ही ग्रहण होता है । जाति सूक्ष्म है, और व्यक्ति स्थूल । व्यवहार में सूक्ष्म का ग्रहण न

---

१. **मीमांसकास्तु गवादिपदानां जातिरेव वाच्या, न तु व्यक्तिः ।**

—शक्तिवाद (परिशिष्ट काण्ड), पृ० १६५

२. मीमांसकों की इस मान्यता को अस्वीकार करते हुए वैयाकरण जात्यादि में संकेत-ग्रह स्वीकार करते हैं । प्रसंगवश वहां 'जातिवाद' पर भी अन्य प्रकाश डाला जा रहा है । देखिए पृ० ३६, ४२

होकर स्थूल का ही होता है। अतः मीमांसकों के इसी सिद्धान्त के अनुसार जाति में संकेत-ग्रह स्वीकार करते हुए भी कुछ विद्वान्—चाहे वे मीमांसक ही क्यों न हों—यह स्वीकार करते हैं कि आक्षेप द्वारा, अर्थात् अर्थापत्ति अथवा अनुमान द्वारा, अथवा किसी अन्य सम्बन्ध द्वारा किसी विशिष्ट गाय का अर्थात् 'व्यक्ति' का ज्ञान होता है। यह अनुमान-प्रक्रिया इस प्रकार होगी—जहां-जहां गोत्व (जाति) है, वहां-वहां गौ (व्यक्ति) भी अवश्य है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का समग्र रूप में अभिप्राय है—**'संकेत-ग्रह होता तो जाति का है, पर व्यवहार में व्यक्ति का ही ग्रहण होता है, और इस स्वीकृति के लिए आक्षेप, अनुमान अथवा किसी अन्य सम्बन्ध की स्वीकृति करनी पड़ती है।'**

इस ग्रन्थ का लेखक स्वयं इस मान्यता से सहमत है।

२. **व्यक्तिवाद**—

संकेत-ग्रह व्यक्ति का होता है—यह मत किसी विशेष आचार्य के नाम से उद्धृत नहीं किया जाता। अतः इस मत को मानने वाले आचार्य व्यक्तिवादी कहाते हैं। 'गाय लाओ', 'गाय बांधो' आदि कथनों से एक विशेष गाय—व्यक्ति-विशेष का ही बोध होता है, न कि संसार भर की सभी गायों का, अर्थात् जिन पदार्थों में गोत्व जाति है। 'गौ लाओ', 'गौ मत लाओ' आदि व्यवहार में हमें व्यक्ति ही अभीष्ट रहता है, न कि जाति—अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है, न कि जाति। अतः संकेत-ग्रहण व्यक्ति का ही होता है।[1]

किन्तु व्यक्ति में संकेत-ग्रह मानने में दो दोष उपस्थित होते है—आनन्त्य और व्यभिचार।

(१) **आनन्त्य दोष**—जिस वाचक शब्द से अभिधा शक्ति द्वारा जिस व्यक्ति-विशेष में संकेत-ग्रह हुआ है उस शब्द से केवल उस व्यक्ति-विशेष की ही उपस्थिति होगी, न कि सब व्यक्तियों की। अतः अन्य व्यक्तियों की प्रतीति के लिए प्रत्येक व्यक्ति मे अलग-अलग संकेत-ग्रह मानना आवश्यक होगा और इस प्रकार अनन्त शक्तियों (अभिधा शक्तियों) की कल्पना करनी होगी। इस तथ्य को प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर ने इस प्रकार समझाया है—'क्या व्यवहार मे सभी गौ-व्यक्तियों में संकेत होता है, अथवा किसी एक गो-व्यक्ति में ? इन दोनों विकल्पों में से पहले विकल्प में एक दोष तो 'आनन्त्य' का है, [क्योंकि] एक ही बार में अनन्त गो-व्यक्तियों

---

१. (क) **अर्थक्रियाकारितया प्रवृत्ति-निवृत्ति-योग्या व्यक्तिरेव।**

—काव्यप्रकाश, २य उ०

(ख) **व्यक्तिवादिनस्तु आहुः—शब्दस्य व्यक्तिरेव वाच्या।**

—महाभाष्य-प्रदीप (कैयट), पृ० ५३

की—सब देशों और सब कालों की—उपस्थिति होना असम्भव है। अतः व्यक्ति में संकेत-ग्रह नहीं माना जा सकता।[1]

(२) **व्यभिचार-दोष**—व्यभिचार का अभिप्राय है सामान्य नियम का उल्लंघन। यह ठीक है कि व्यवहार में अभिधा शक्ति द्वारा व्यक्ति-विशेष में संकेत-ग्रह होता है, और अनन्त व्यक्तियों के लिए अनन्त शक्तियां माननी पड़ेंगी, किन्तु इस 'आनन्त्य दोष' से बचने के लिए यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति-विशेष का संकेत-ग्रह हो चुकने के उपरान्त अन्य व्यक्तियों का बोध भी बिना संकेत-ग्रह के स्वतः होता है, तो इस स्वीकृति में 'व्यभिचार दोष' उत्पन्न हो जाएगा। 'गाय' शब्द कहने से एक गो-व्यक्ति (एक विशेष गाय) के साथ-साथ अन्य गो-व्यक्तियों का भी बोध बिना संकेत-ग्रह के स्वीकार कर लेना इस नियम का उल्लंघन है कि संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थ की प्रतीति करना है।[2] अस्तु! इस प्रकार व्यक्ति में संकेत-ग्रह मानने से 'आनन्त्य' दोष उत्पन्न होता है, और उससे बचने के लिए व्यभिचार दोष उत्पन्न होता है।

(३) **जातिविशिष्ट-व्यक्तिवाद**—

संकेत-ग्रह 'जाति' में मानने पर व्यक्ति के बोध के लिए 'आक्षेप', 'अनुमान' अथवा किसी अन्य सम्बन्ध की स्वीकृति करनी पड़ती है, और व्यक्तिवादियों के अनुसार संकेत-ग्रह व्यक्ति में मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष उत्पन्न होते हैं। अतः नैयायिक संकेत-ग्रह केवल जाति अथवा केवल व्यक्ति में न मानकर 'जाति-विशिष्ट व्यक्ति' में मानते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि 'गौर्गच्छति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'गो' शब्द गोत्व अर्थात् 'गो-जाति से विशिष्ट गो-व्यक्ति' का बोध कराता है, न कि केवल गोत्व-जाति का, अथवा न केवल गो-व्यक्ति (किसी विशेष गाय) का। जब हम 'गो' शब्द किसी वाक्य में प्रयुक्त करते हैं तो हमें निःसन्देह अभीष्ट तो गो-व्यक्ति रहता है, किन्तु वह गो-जाति से विशिष्ट होता है, क्योंकि वह विशेष गाय भी तो इसी कारण गाय कहाती है कि उसमें गोत्व-जाति विद्यमान है। अतः संकेत-ग्रह 'जाति-विशिष्ट व्यक्ति' का होता

---

१. **किं हि सर्वासु गो-व्यक्तिषु संकेत-ग्रहो व्यवहाराङ्गं (गोपद-जन्य-शब्दबोधकारणम्), उत कस्यांचिद् एकव्यक्तौ, इति विकल्प्य तत्राद्यपक्षे दूषणमाह आनन्त्याद् इति। अनन्तानां गोव्यक्तीनां एकदोपस्थित्यसंभवेन तत्र संकेतो ग्रहीतुं न शक्यत इत्यर्थः।** (काव्यप्रदीप, २य उ०, पृष्ठ २१, २२ के आधार पर, का० प्र०, बा० बो० टीका, पृष्ठ ३२)

२. **यस्यां गोव्यक्तौ संकेतग्रहः स्वीकृतः, तदतिरिक्तायाः गोव्यक्तेर्गोशब्दाद् भानं न स्याद् इति व्यभिचारः।** —काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका, पृ० ३२

है, न केवल गोत्व का और न केवल किसी एक विशेष गाय का ।[1] इसी सिद्धान्त को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने कहा है : **तद्वान् शब्दार्थः ।** (का० प्र० २.१०, वृत्ति)

(४) अपोहवाद—

अपोह को अतद्व्यावृत्ति भी कहते हैं। इन दोनों शब्दों से आशय है—अभीष्ट पदार्थ के अतिरिक्त शेष सब पदार्थों का निराकरण । अपोहवाद बौद्धों का मत है । वे अपोह रूप अर्थ में ही शब्द का संकेत मानते है । इसका अभिप्राय यह है कि 'गो' शब्द कहने पर पहले 'गो' के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों का निराकरण हो जाता है, फिर 'गो' शब्द से 'गो' अर्थ का बोध होता है । अपोह्=अतद्व्यावृत्ति (न तत् अतत्, वह नहीं, अर्थात् उससे भिन्न की व्यावृत्ति=निवृत्ति), अर्थात् जिस वस्तु का बोध करने के लिए शब्द का प्रयोग हुआ उससे भिन्न जितनी वस्तुएं हैं उसको हटा देना ।[1] बौद्धों के इस सिद्धान्त की ओर मम्मट ने केवल संकेत-मात्र किया है—**अपोहः शब्दार्थः** । का० प्र० २.१० वृत्ति) ।

बौद्ध लोग जाति अथवा व्यक्ति में संकेत-ग्रह नहीं मानते—क्योंकि ऐसा मानने पर इन मतों के साथ उनके अपने अन्य सिद्धान्तों का विरोध हो जाता है ।

---

१. इस सम्बन्ध में निम्नोक्त कथन उद्धरणीय हैं—

(क) **व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः** । (न्यायसूत्र) 'व्यक्ति, आकृति और जाति का सम्मिलित रूप ही पद का अर्थ होता है ।' गौतम मुनि के इस सूत्र में व्यक्ति और आकृति ये दो तत्त्व अलग-अलग गिनाये गये हैं, पर आगे चल कर नैयायिकों ने इन्हें एक ही मान लिया ।

(ख) **जात्यवच्छिन्नसंकेतवती नैमित्तकी मता ।**
जातिमात्रे हि संकेताद् व्यक्तेर्भानं सुदुष्करम् ॥

शब्दशक्तिप्रकाशिका, १९

अर्थात् केवल जाति में संकेत मानने पर व्यक्ति का मान होना दुष्कर हो जाएगा, अतः [किसी पद का प्रयोग] जाति से युक्त संकेत वाले व्यक्ति के लिए होता है ।

(ग) **तद्वान्······ शब्दार्थः** । का० प्र० २.११ (वृत्ति)

(घ) **न व्यक्तिमात्रं शक्यं न वा जातिमात्रम् । आद्ये, आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च । अन्त्ये व्यक्तिप्रतीत्यभावप्रसंगात् । न चाक्षेपाद् व्यक्तिप्रतीतिरिति वाच्यम् । तथा सति वृत्त्यनुपस्थितत्वेन शाब्दबोधविषयत्वानुपपत्तिः । तस्माज्जातिविशिष्ट एव संकेतः ।**

—का० प्र०, बो० बो०, पृष्ठ ३८

यदि वे जाति में संकेत मानें तो यह उनके क्षणिकवादी सिद्धान्त के विरुद्ध हो जाता है। जाति को स्थिर माना गया है, किन्तु यह उनके 'क्षणिकवाद' के विपरीत है। अतः बौद्ध जाति की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। यदि व्यक्ति मे सकेत माना जाए तो यह भी उनके क्षणिकवादी सिद्धान्त के विपरीत जा पड़ता है। उनके अनुसार व्यक्ति तो क्षणभंगुर अर्थात् परिवर्तनशील है—क्षण-क्षण में बदलता रहता है। सकेत किस व्यक्ति का माने - इस क्षण के व्यक्ति का अथवा एक क्षण बीत जाने के बाद दूसरे क्षण के व्यक्ति का, आदि। 'अपोह' में संकेतग्रह मानने से, उनके अनुसार वही पदार्थ अभीष्ट रहेगा जो उस समय जैसा है, अन्य पदार्थ—किसी अन्य काल तथा देश के पदार्थ—अभीष्ट नहीं होंगे।[२] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध जन पदार्थ में नदी-प्रवाह के समान परिवर्तनशीलता होने पर भी भ्रमवश अपरिवर्तनशीलता की स्वीकृति करते हैं।

× × ×

किन्तु 'अपोहवाद' की अस्वीकृति में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) जब तक 'गो' का ज्ञान नहीं होगा, तब तक गो-भिन्न पदार्थों का निराकरण कैसे सम्भव है ?

(२) इस सिद्धान्त में एक पदार्थ के बोध के लिए उसके अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों का बोध आवश्यक माना गया है—प्रश्न है कि एक पदार्थ का परिज्ञान सुकर है अथवा उससे भिन्न अनन्त पदार्थों का ?

(३) 'गो' शब्द मे अर्थबोध की जो शक्ति है उसे तो अभिधा शब्दशक्ति गो-भिन्न की व्यावृत्ति में निर्दिष्ट कर चुकी, अब उससे 'गो' का बोध नहीं हो सकता,

---

१. इस सम्बन्ध में निम्नोक्त स्थल उद्धरणीय है—

(क) अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते।
अन्यापोहश्च सामान्यपदार्थापकृतिः किल ।। काव्यालंकार (भामह) ६.१६

अर्थात् दूसरों (बौद्धों) का कथन है कि अन्य (वस्तुओं) के अपोह से शब्द अर्थ का बोध कराता है। अन्य के अपोह का तात्पर्य है अन्य पदार्थ का निराकरण।

(ख) गोशब्दश्रवणात् सर्वासां गोव्यक्तीनामुपस्थितेरतस्माद् अश्वादितो व्यावृत्तिदर्शनाच्च अतद्व्यावृत्तिरूपोऽपोहो वाच्य इति बौद्धमतम्।

—का० प्र०, बा० बो०, पृष्ठ ३८

२ व्यक्तौ आनन्त्यादिदोषाद् भावस्य च देशकालानुगमाभावात् तदनुगतायाम् अतद्व्यावृत्तौ संकेत इति सौगताः। —काव्यप्रदीप (गोविन्द ठक्कुर), २य उ०, पृष्ठ २५ के आधार पर, का० प्र०, बा० बो० टीका, पृष्ठ ३८।

क्योंकि "सकृत्प्रयुक्तः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति," अर्थात् एक बार प्रयुक्त शब्द केवल एक बार ही अर्थ को बताता है। अतः गो-भिन्न अर्थ के निराकरण के उपरान्त गो (गाय) अर्थ के लिए कोई अन्य शक्ति माननी पड़ेगी, अथवा गो-भिन्न कोई अन्य ध्वनि (नाद) बोलना पड़ेगा—

> यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
> जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः॥

काव्यालंकार (भामह) ६.१७

इस सम्बन्ध में बौद्धों का एक कथन उल्लेख्य है कि 'अपोह' शब्द से हमें न केवल विधि स्वीकार है और न केवल अन्य-व्यावृत्ति (निषेध, निराकरण), अपितु अन्यव्यावृत्ति-विशिष्ट विधि ही शब्द का अर्थ है। अर्थात् 'गो' शब्द से गो-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति भी, और 'गो' की प्रतीति भी। इसी कथन पर भामह का निम्नोक्त उत्तर उल्लेख्य है—शब्द का फल है अर्थबोध, और एक [शब्द] के दो फल नहीं होते। फिर भला निषेध (निराकरण) और विधि (अभीष्ट अर्थ) का ज्ञान—ये दो फल एक [शब्द] से ही कैसे उपलब्ध हो सकते हैं—

> अर्थज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम्।

काव्यालंकार (भामह) ६.१८

(४) गो-शब्द सुनने से पहले गो-अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक है, तभी तो उससे गो-भिन्न के निषेध में गो-ध्वनि की प्रवृत्ति होगी—

> पुरा गौरिति विज्ञानं गोशब्दश्रवणाद् भवेत्।
> येनाऽगोप्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः॥

काव्यालंकार (भामह) ६.१९

(५) जात्यादिवाद—

वैयाकरण संकेतग्रह न तो जाति में मानते है, न व्यक्ति में, और न जाति-विशिष्ट व्यक्ति में, अपितु जात्यादि में मानते हैं। जात्यादि से तात्पर्य है जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (द्रव्य)। ये चारों व्यक्ति की उपाधियां हैं। उपाधि कहते हैं धर्म विशेष को। इन्हीं में शब्दों की शक्ति का ज्ञान होता है, अर्थात् इन्हीं में संकेत-ग्रह होता है। काव्यशास्त्र में वैयाकरणों की इस स्वीकृति में महाभाष्यकार पतञ्जलि की मान्यता प्रस्तुत की जाती है—**'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः।**[1] (का० प्र० २.१० वृत्ति)

---

१. इस प्रसंग का विवरण अगले पृष्ठों में प्रस्तुत है — 'वाचक शब्द और उसके प्रकार'।

वाचक शब्द और उसके प्रकार

शब्दशक्तियों के आधार पर शब्द के तीन रूप स्वीकार किये जाते हैं—वाचक, लक्षक और व्यंजक। ये तीनों शब्द के रूप हैं, इसके प्रकार अथवा भेद नहीं हैं, क्योंकि एक ही शब्द, उपाधि—भेद से, अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार, कभी केवल वाचक कहाता है, कभी वाचक और लक्षक दोनों, और कभी वाचक, लक्षक और व्यंजक तीनों। यहां विवेच्य केवल वाचक शब्द है।

(क) वाचक शब्द—

वाचक शब्द का सम्बन्ध अभिधा शक्ति के साथ है। अभिधा शक्ति वाच्य अर्थ का निर्देश करती है। इस शक्ति के द्वारा वाच्य अर्थ को बताने वाला शब्द वाचक कहलाता है। मम्मट के कथनानुसार जो साक्षात् संकेतित अर्थ को बताता है, उसे वाचक शब्द कहते हैं—**साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।** (का० प्र० २।६) वाचक शब्द के सम्बन्ध में मम्मट-प्रस्तुत शास्त्रीय चर्चा पर आधारित निम्नोक्त तथ्य उल्लेखनीय हैं। इनसे विषय के स्पष्टीकरण में सहायता मिलेगी—

(क) प्रत्येक उच्चरित नाद तब तक 'शब्द' (वाचक शब्द) कहाने का अधिकारी नहीं बनता, जब तक वह किसी 'संकेत' का ग्रहण नहीं करता। परिणामतः, इस नाद अर्थात् ध्वनिमात्र से किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। उदाहरणार्थ—'गृह' शब्द हमारे लिए सार्थक होते हुए भी भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ किसी विदेशी व्यक्ति के लिए शब्द विशेष न होकर 'नाद' मात्र है।

(ख) हाँ, जब वह नाद किसी संकेत का ग्रहण करता है तब वह किसी अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करता है, और तभी वह नाद 'शब्द' कहाने का अधिकारी बनता है।

(ग) जिस शब्द से व्यवधान के बिना जिस अर्थ का संकेत-ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहाता है।[1]

निष्कर्षतः, वाचक वह शब्द कहाता है जिसके द्वारा किसी अर्थ-विशेष का संकेत-ग्रहण सदा और एक-समान हो सके। यहां 'श्लिष्ट' शब्दों के सम्बन्ध में शंका की जा सकती है कि वे एक-समान अर्थ के वाचक सदा नहीं होते, वे विभिन्न अर्थों के वाचक होते है। किन्तु यह शंका ही निर्मूल है। **'एकः शब्दः एकार्थवाचकः', 'एकः शब्दः सकृद् एकमेवार्थं गमयते'** इस नियम के अनुसार श्लिष्ट शब्द भी प्रसंगानुसार एक समय में केवल एक ही शब्द के वाचक होते हैं—एक साथ दो-दो, तीन-तीन आदि अर्थों के वाचक नहीं होते। अस्तु !

---

१. **इहाऽगृहीतसंकेतस्य शब्दस्याऽर्थप्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयति इति यस्य यत्राऽव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः।**

—का० प्र० २७ वृत्ति

क्योंकि "**सकृत्प्रयुक्तः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति,**" अर्थात् एक बार प्रयुक्त शब्द केवल एक बार ही अर्थ को बताता है। अतः गो-भिन्न अर्थ के निराकरण के उपरान्त गो (गाय) अर्थ के लिए कोई अन्य शक्ति माननी पड़ेगी, अथवा गो-भिन्न कोई अन्य ध्वनि (नाद) बोलना पड़ेगा—

यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः॥

काव्यालंकार (भामह) ६.१७

इस सम्बन्ध में बौद्धों का एक कथन उल्लेख्य है कि 'अपोह' शब्द से हमें न केवल विधि स्वीकार है और न केवल अन्य-व्यावृत्ति (निषेध, निराकरण), अपितु अन्यव्यावृत्ति-विशिष्ट विधि ही शब्द का अर्थ है। अर्थात् 'गो' शब्द से गो-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति भी, और 'गो' की प्रतीति भी। इसी कथन पर भामह का निम्नोक्त उत्तर उल्लेख्य है—शब्द का फल है अर्थबोध, और एक [शब्द] के दो फल नहीं होते। फिर भला निषेध (निराकरण) और विधि (अभीष्ट अर्थ) का ज्ञान—ये दो फल एक [शब्द] से ही कैसे उपलब्ध हो सकते हैं—

अर्थज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम्।

काव्यालंकार (भामह) ६.१८

(४) गो-शब्द सुनने से पहले गो-अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक है, तभी तो उससे गो-भिन्न के निषेध में गो-ध्वनि की प्रवृत्ति होगी—

पुरा गौरिति विज्ञानं गोशब्दश्रवणाद् भवेत्।
येनाऽगोप्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः॥

काव्यालंकार (भामह) ६.१९

(५) **जात्यादिवाद**—

वैयाकरण संकेतग्रह न तो जाति में मानते हैं, न व्यक्ति में, और न जाति-विशिष्ट व्यक्ति में, अपितु जात्यादि में मानते हैं। जात्यादि से तात्पर्य है जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (द्रव्य)। ये चारों व्यक्ति की उपाधियां हैं। उपाधि कहते हैं धर्म विशेष को। इन्हीं में शब्दों की शक्ति का ज्ञान होता है, अर्थात् इन्हीं में संकेत-ग्रह होता है। काव्यशास्त्र में वैयाकरणों की इस स्वीकृति में महाभाष्यकार पतञ्जलि की मान्यता प्रस्तुत की जाती है—'**गोः शुक्लश्चलो डित्थः' इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः।**[1] (का० प्र० २.१० वृत्ति)

---

१. इस प्रसंग का विवरण अगले पृष्ठों में प्रस्तुत है — 'वाचक शब्द और उसके प्रकार'।

वाचक शब्द और उसके प्रकार

शब्दशक्तियों के आधार पर शब्द के तीन रूप स्वीकार किये जाते हैं—वाचक, लक्षक और व्यजक। ये तीनों शब्द के रूप हैं, इसके प्रकार अथवा भेद नहीं हैं, क्योंकि एक ही शब्द, उपाधि—भेद से, अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार, कभी केवल वाचक कहाता है, कभी वाचक और लक्षक दोनों, और कभी वाचक, लक्षक और व्यंजक तीनों। यहां विवेच्य केवल वाचक शब्द है।

(क) वाचक शब्द—

वाचक शब्द का सम्बन्ध अभिधा शक्ति के साथ है। अभिधा शक्ति वाच्य अर्थ का निर्देश करती है। इस शक्ति के द्वारा वाच्य अर्थ को बताने वाला शब्द वाचक कहलाता है। मम्मट के कथनानुसार जो साक्षात् संकेतित अर्थ को बताता है, उसे वाचक शब्द कहते है—**साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।** (का० प्र० २।६) वाचक शब्द के सम्बन्ध में मम्मट-प्रस्तुत शास्त्रीय चर्चा पर आधारित निम्नोक्त तथ्य उल्लेखनीय हैं। इनसे विषय के स्पष्टीकरण में सहायता मिलेगी—

(क) प्रत्येक उच्चरित नाद तब तक 'शब्द' (वाचक शब्द) कहाने का अधिकारी नहीं बनता, जब तक वह किसी 'संकेत' का ग्रहण नहीं करता। परिणामतः, इस नाद अर्थात् ध्वनिमात्र से किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। उदाहरणार्थ—'गृह' शब्द हमारे लिए सार्थक होते हुए भी भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ किसी विदेशी व्यक्ति के लिए शब्द विशेष न होकर 'नाद' मात्र है।

(ख) हाँ, जब वह नाद किसी सकेत का ग्रहण करता है तब वह किसी अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करता है, और तभी वह नाद 'शब्द' कहाने का अधिकारी बनता है।

(ग) जिस शब्द से व्यवधान के बिना जिस अर्थ का संकेत-ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहाता है।[1]

निष्कर्षतः, वाचक वह शब्द कहाता है जिसके द्वारा किसी अर्थ-विशेष का संकेत-ग्रहण सदा और एक-समान हो सके। यहां 'श्लिष्ट' शब्दों के सम्बन्ध में शका की जा सकती है कि वे एक-समान अर्थ के वाचक सदा नहीं होते, वे विभिन्न अर्थों के वाचक होते हैं। किन्तु यह शंका ही निर्मूल है। **'एकः शब्दः एकार्थवाचकः', 'एकः शब्दः सकृद् एकमेवार्थं गमयते'** इस नियम के अनुसार श्लिष्ट शब्द भी प्रसंगानुसार एक समय में केवल एक ही शब्द के वाचक होते है—एक साथ दो-दो, तीन-तीन आदि अर्थों के वाचक नहीं होते। अस्तु !

---

१. **इहाऽगृहीतसकेतस्य शब्दस्याऽर्थप्रतीतेरभावात् सकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशषं इति यस्य सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचक**

—का० प्र० २७ वृत्ति

(ख) वाचक शब्द के प्रकार

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने [वाचक] शब्द के चार भेद गिनाये हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा : **चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः।** (महाभाष्य २य आह्निक, 'ऋलृक' सूत्र-प्रसग) । वाचक के चार भेदों का उल्लेख रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी किया है । मम्मट ने तो यही भेद स्वीकार किये है, किन्तु रुद्रट और विश्वनाथ ने 'यदृच्छा' के स्थान पर 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है। अब इन्हीं चारों का स्वरूप प्रस्तुत है। पहले द्रव्य को लेते है ।

१ द्रव्य

कई आचार्यों के कथनानुसार मूर्त्त पदार्थ को द्रव्य कहते है, अर्थात् ये द्रव्य इन्द्रिय-ग्राह्य होते है। हमारी इन्द्रिया इन द्रव्यों को छू, देख, सुन और सूँघ सकती है । इसके विपरीत जाति, गुण और क्रिया ये सभी मूर्त्त नहीं होते, तथा इनका आधार कोई न कोई द्रव्य होता है । प्रत्येक द्रव्य में इनमें से प्रथम दो अथवा तीनों विद्यमान रहते हैं, किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं कि किसी द्रव्य में ये तीनों ही विद्यमान हो। उदाहरणार्थ, पाषाण मे पाषाणत्व जाति और श्वेत, रक्त अथवा श्यामवर्ण गुण तो विद्यमान है, पर उसमें कोई क्रिया विद्यमान नहीं है, वह सदा निश्चल रहता है । किन्तु फिर भी, इसे द्रव्य ही कहेंगे । इन सभी मूर्तिमान् द्रव्यों मे विकार अर्थात् परिवर्तन हो सकता है।

केवल मूर्त पदार्थ ही द्रव्य कहाते है—वस्तुतः यह परिभाषा अव्याप्त है । कुछ ऐसे पदार्थ भी हैं जो द्रव्य तो है पर वे मूर्त नही होते, जैसे दिशा, काल, आकाश, आत्मा, मन आदि । इसके अतिरिक्त इनके आकार-प्रकार में किसी तरह का विकार अर्थात् परिवर्तन भी नहीं होता । रुद्रट ने इस ओर संकेत भी किया है कि ये ऐसे द्रव्य है जो नीरूप और अविक्रिय है। किन्तु फिर भी, उन्होंने द्रव्य की परिभाषा 'मूर्तिमद् द्रव्यम्' ही प्रस्तुत की है :

जातिक्रियागुणानां पृथगाधारोऽत्र मूर्तिमद् द्रव्यम् ।
दिक्कालाकाशादि तु नीरूपमविक्रियं भवति ॥

—काव्यालंकार ७ २

उन्होने द्रव्य के अन्तर्गत नित्य-अनित्य, चर-अचर, सचेतन-अचेतन सभी मूर्त्त एवं अमूर्त्त पदार्थों को गिनाया है :

नित्यानित्यचराचरसचेतनाऽचेतनैर्बहुभिः।
भेदैर्विभिन्नमेतद् द्विधा द्विधा भूरिशो भवति ॥

७ ३

द्रव्य के ही प्रसंग में 'यदृच्छा' की चर्चा करना भी अपेक्षित है। इस शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—यद् ऋच्छयते—गम्यते (अवगम्यते इति यावत्) इति यदृच्छा, अर्थात् जो स्वतःप्रचलित हो जाए उसे 'यदृच्छा' कहते हैं। महाभाष्यकार ने इसके उदाहरण-स्वरूप लृतक, ऋफिड, ऋफिड्डु, लृफिड, लृफिड्डु' शब्दों को, तथा मम्मट ने उन्हीं के अनुकरण मे 'डित्थ' शब्द को प्रस्तुत किया है। ये सभी निरर्थक होते हुए भी विभिन्न व्यक्तियों के ऐसे नामों का संकेत करते है जो स्वतः चल पड़े हों। इधर विश्वनाथ इसी प्रसंग मे एक पग और आगे बढ़े है। उन्होंने 'यदृच्छा' के स्थान पर 'द्रव्य' को ही स्वीकार करते हुए 'डित्थ, डवित्थ' आदि निरर्थक संज्ञाओं के अतिरिक्त 'हरिहर, आदि सार्थक संज्ञाओं को भी 'द्रव्य' शब्द के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है—द्रव्यशब्दा. एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थ-डवित्थादयः। (सा० द० २य परि०)

इस प्रकार रुद्रट के अनुसार 'द्रव्य' शब्द से अभिप्राय है—एक-व्यक्तिवाची अभिधानों को छोड़कर शेष सभी मूर्त एवं अमूर्त पदार्थ, और विश्वनाथ के अनुसार इसका अभिप्राय है—एक-व्यक्तिवाची अभिधान चाहे वे निरर्थक हों अथवा सार्थक। किन्तु हमारे विचार में द्रव्य के अन्तर्गत रुद्रट और विश्वनाथ-सम्मत सभी पदार्थ अन्तर्भूत करने चाहिएं—मूर्त और अमूर्त दोनों, और मूर्त द्रव्यों के अन्तर्गत न केवल जातिवाचक गृहीत होने चाहिएं, अपितु व्यक्तिवाचक संज्ञाए भी, तथा व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अन्तर्गत निरर्थक और सार्थक दोनों प्रकार के अभिधानों का ग्रहण करना चाहिए। उदाहरणार्थ—(१) गौ, बालक, पर्वत आदि मूर्त पदार्थ, (२) डित्थ, हरिहर, हिमालय आदि मूर्त पदार्थ, तथा (३) आकाश, वायु, आत्मा, मन आदि अमूर्त पदार्थ, ये सभी द्रव्य है। इनमें से प्रथम वर्ग के शब्द जातिवाचक है, द्वितीय वर्ग के व्यक्तिवाचक हैं, तथा तृतीय वर्ग के शब्दों को भी व्यक्तिवाचक मानना चाहिए, क्योंकि गौ, बालक आदि के समान ये किसी एक जाति का बोध नही कराते, अपितु एक ही पदार्थ का बोध कराते हैं। आकाश अंशी रूप में तो एक है ही, वायु, आत्मा और मन को भी अंशी रूप में एक ही मानना चाहिए।

उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त अब भी कुछ ऐसे शब्द बच रहते हैं जो वक्ष्यमाण गुण, क्रिया और जाति के अन्तर्गत नहीं आते, जैसे—बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य, लावण्य, माधुर्य आदि। द्रव्य को उक्त रूप में मूर्त और अमूर्त पदार्थों का पर्याय मान लेने की स्थिति मे इन शब्दों को द्रव्य के अन्तर्गत मानना समुचित नहीं है। ये किसी न किसी भाव के नाम का बोध करते हैं। अतः इसके लिए या तो एक अलग पांचवां शब्द-प्रकार 'भाव' नाम से मानना पड़ेगा या द्रव्य को 'संज्ञा' का पर्याय मानते हुए द्रव्य की परिभाषा वही करनी होगी जो आधुनिक व्याकरण-ग्रन्थों में 'संज्ञा' की स्वीकार की जाती है—'जिससे किसी व्यक्ति, जाति अथवा भाव का बोध हो,' और इसी के वही तीन भेद—व्यक्तिवाचक, जातिवाचक और भाववाचक मानने चाहिएं। अधिक समुचित यह रहेगा कि द्रव्य अथवा यदृच्छा के स्थान पर 'संज्ञा' नामक शब्द-प्रकार ही स्वीकार कर लिया जाए।

२. गुण

गुण द्रव्य पर अनिवार्यतः आधारित रहता है। इसका द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध है, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य किसी न किसी गुण से अवश्य सम्पन्न होगा। गुण इन्द्रिय-ग्राह्य है। वह अनुमान का विषय नहीं है। इसके तीन भेद है—सहज, आहार्य तथा आवस्थिक। सहज गुण से तात्पर्य है नित्य धर्म। उदाहरणार्थ—अग्नि में उष्णता, कौए मे कृष्णता आदि। आहार्य गुण कहते है उपलब्ध गुण को। जैसे शास्त्र के अभ्यास से पाण्डित्य अथवा वस्त्र पर चढ़ाया गया अन्य रग आदि। जो गुण अवस्थानुसार परिवर्तित हो जाते हैं, उन्हें आवस्थिक गुण कहते हैं, जैसे फलों का लाल रग, केशों की शुक्लता आदि।[1]

३. क्रिया

क्रिया का अनुमान द्रव्य के विकार से होता है। द्रव्य के विकार से तात्पर्य है पदार्थ की कोई चेष्टा। वही चेष्टा उसी नाम की क्रिया कहाती है। क्रिया सदा 'धात्वर्थ' होती है, अर्थात् प्रत्येक क्रिया अपनी धातु के ही मूल अर्थ से सम्बद्ध रहती है।[2] उदाहरणार्थ—पचति, गच्छति, स्वपिति, जागर्ति आदि रूप क्रमशः पच्, गम्, स्वप् और जागृ धातुओं के अर्थों से सम्बद्ध हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि मम्मट और विश्वनाथ ने क्रिया से तात्पर्य 'पचति, गच्छति' आदि न लेकर 'पाक, गमन' आदि लिया है। यहा 'पाक' आदि शब्द समग्र क्रियाकलाप के सूचक हैं: **पूर्वापरीभूताऽवयवः क्रियारूपः** (का० प्र०, २य उ०), अर्थात् आरम्भ से लेकर अन्त तक पाक-सम्बन्धी सभी प्रक्रिया। उदाहरणार्थ, भोजन-विषयक कच्ची सामग्री से पूरित पात्र को आग पर चढ़ाने से लेकर उसे नीचे उतारने तक का नाम पाक है: **अधिश्रयणाऽधःश्रयणपर्यन्तः क्रियाकलापः पाकशब्देनोच्यते।** (महाभाष्य)। इनसे पूर्व यास्क ने इसी अर्थ के लिये 'आख्यात' शब्द का प्रयोग किया था।[3] यद्यपि उन्हें 'आख्यात' शब्द से क्रिया के अतिरिक्त गौण रूप से द्रव्य (यदृच्छा शब्द) भी अभीष्ट है, किन्तु क्रिया की प्रधानता रहने के कारण वह आख्यात को ही भावप्रधान मानते हैं। 'भाव' शब्द यहा क्रिया का पर्यायवाची है। मम्मट के अनुसार ये दोनों रूप—'पचति' और 'पाक'—क्रिया है। यास्क के अनुरूप मम्मट भी क्रिया और भाव को परस्पर पर्यायवाची शब्द मानते हैं; उनका यह मन्तव्य वैयाकरणों द्वारा

---

१. **द्रव्यादपृथग्भूतो भवति गुणः सततमिन्द्रियग्राह्यः।**
सहजाहार्यावस्थिकभावविशेषादयं त्रेधा॥ रुद्रट, काव्यालंकार ७.४

२. **नित्यं क्रियानुमेया द्रव्यविकारेण भवति धात्वर्थः।** —रुद्रट, काव्यालकार, ७.५

३. **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाऽऽचष्टे व्रजति, पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्।**
निरुक्त १ १ ११

भी अनुमोदित है—धात्वर्थो हि क्रिया ज्ञेयो भाव इत्यभिधीयते । (वाक्यपदीय)। अस्तु ! ये दोनों रूप क्रिया अथवा भाव कहलाते हैं :

(क) भावप्रधानमाख्यातम् ।[३]

(ख) तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः । निरुक्त १.१.६,१०

मम्मट के भाव ने दो प्रकार गिनाये हैं—सिद्धावस्थापन्नाभाव और साध्यावस्थापन्न भाव । पच् धातु से निर्मित 'पाक' शब्द को उन्होंने सिद्धावस्थापन्न भाव कहा है, और 'पचति' को साध्यावस्थापन्न भाव । इधर साध्य को उन्होंने गुण अर्थात् विशेषण का पर्याय माना है । मम्मट के अनुसार 'पचति' को इस आधार पर साध्य (गुण) मानना चाहिए कि 'पचति' शब्द स्वयं एक विशेषण है, क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'ति' प्रत्यय पच् धातु का विशेषण है । 'पचति' का अर्थ है एककर्तृक वर्तमानकालिक पाक । इस प्रकार मम्मट आदि के विचार में 'पाक' और 'पचति' आदि दोनों प्रकार के रूप क्रिया (भाव) है—एक सिद्ध है और दूसरा साध्य ।

किन्तु इस सम्बन्ध मे हमारा विचार है कि यद्यपि 'पाक, गमन' आदि शब्दो मे क्रिया का—या यों कहिए भाव का—अंश निहित है, तो भी विषय के स्पष्टीकरण के लिए इसे क्रिया नहीं कहना चाहिए। इन्हें आधुनिक व्याकरणों के अनुरूप 'भाव', और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो भाववाचक संज्ञा, कहना चाहिए, तथा 'पचति, गच्छति' आदि रूपों को ही 'क्रिया' नाम से अभिहित करना चाहिए ।

o o

शेष रहा 'आख्यात' का प्रश्न । जैसा कि ऊपर लिख आये हैं 'आख्यात' से यास्क के अनुसार दोनों रूप ग्रहण किये जाते हैं—प्रधान रूप से क्रिया, और गौण रूप से द्रव्य (अर्थात् कर्त्ता) । इसका कारण यह है कि 'पचति' कहने से अर्थावबोध तो होता ही है, साथ ही क्रिया की प्रधानता और द्रव्य (कर्त्ता) की गौणता भी लक्षित होती है, किन्तु इसके विपरीत 'रामः' अथवा 'असौ' आदि द्रव्यवाचक (संज्ञा अथवा सर्वनामवाचक) शब्दों के कहने से अर्थावबोध तक नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें क्रिया समाविष्ट नहीं है । इस प्रकार इन दो उदाहरणों के आधार पर कह सकते हैं कि अकेले द्रव्यवाचक शब्दों में यह क्षमता होती है । इसी आधार पर यह फलित माना जाता है कि 'पचति, गच्छति' आदि शब्दों में क्रिया की प्रधानता माननी चाहिए, और द्रव्य की गौणता । ठीक इसी प्रकार 'पाक, गमन' आदि शब्दों को भी आख्यात कह सकते हैं, क्योंकि इनसे क्रिया की प्रतीति तो होती है, साथ ही 'पकाने वाला, जाने वाला' आदि कर्त्ताओं की ओर भी अनायास ध्यान चला जाता है । अस्तु !

---

३. अर्थात्—(क) आख्यायते प्रधानभावेन क्रिया (भावः), गौणत्वेन द्रव्यं च यत्र तद् आख्यातम् ।

(ख) वाक्ये ह्याख्यातं प्रधानं तदर्थत्वात्, गुणीभूतं नाम तदर्थस्य भावनिष्पत्तावङ्गभूतत्वात् । (निरुक्त १.१.१०, दुर्गाचार्य-व्याख्या)

निष्कर्षतः यास्क के अनुसार यद्यपि आख्यात से तात्पर्य है — प्रधान रूप से क्रिया (अथवा भाव), और गौण रूप से द्रव्य, जैसे 'पचति' और 'पाक'। किन्तु फिर भी, विषय के सुगम अवबोध के लिए, हमारे विचार में, 'पचति' को क्रिया कहना चाहिए, और 'पाक' को भाववाचक संज्ञा। यास्क, मम्मट आदि के अनुसार क्रिया और भाव शब्द पर्यायवाची है, किन्तु आज इनका प्रचलित अर्थ भिन्न-भिन्न है।

४. जाति

भिन्न क्रिया और गुण वाले [होने के कारण] अनेक प्रकार के शरीर वाले भी बहुत से द्रव्यों में जिस तत्त्व के कारण समान बुद्धि पैदा होती है उसे जाति कहते हैं।[१]

कई बालकों अथवा गौओं अथवा पर्वतों में गुण और अथवा क्रिया के कारण यद्यपि विभिन्नता रहती है, तो भी इनमें एक तत्त्व (तथ्य) समान है, वह है इसकी बालकत्व, गोत्व जाति अथवा पर्वतत्व जाति, जिसके कारण ये इन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं। इसी तथ्य को मम्मट ने दूसरे प्रकार से कहा है—'गुण, क्रिया, और यदृच्छा शब्द वस्तुतः होते तो एक है, किन्तु आश्रय-भेद से इनमें भेद प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, एक ही मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण, तेल आदि में भिन्न-भिन्न रूप से दिखायी देता है : **गुणक्रियायदृच्छाशब्दानां वस्तुतः एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते। यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्।** (का० प्र० २।१०, वृ०) और यही तथ्य भर्तृहरि ने अपनी विशिष्ट शैली में निम्न शब्दों मे प्रकट किया है—"किसी पशु को जो स्वरूप से गौ है यह नहीं कह सकते कि वह गौ है,' और न यह कह सकते हैं कि 'वह गौ नहीं है।' फिर भी यदि उसे 'गौ कहते हैं' तो उसमें [संकेतित] गोत्व जाति के ही सम्बन्ध से"—**न हि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः। गोत्वाऽभिसम्बन्धात्तु गौः।** (वाक्यपदीय)।

० ०

'जाति' के प्रसंग में एक अन्य चर्चा भी विचारणीय है। मम्मट और विश्वनाथ ने कुछ विद्वानों का मन्तव्य उल्लिखित करते हुए कहा है कि वे विद्वान् संकेतित (वाचक) शब्द के उक्त चार भेद—गुण, क्रिया, द्रव्य और जाति — न मानकर केवल एक भेद स्वीकार करते हैं 'जाति'—**संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।** (का० प्र० १.१०) इस सम्बन्ध मे उनका तर्क यह है कि जाति तो 'जाति' है ही, गुण, क्रिया और द्रव्य इन तीनों मे भी 'जाति' की ही सत्ता विद्यमान है। उदाहरणार्थ—

---

१ **भिन्नक्रियागुणेष्वपि बहुषु द्रव्येषु चित्रगात्रेषु।**
एकाकारा बुद्धिर्भवति यतः सा भवेज्जातिः॥ रुद्रट, काव्यालंकार ७.६

१. हिम, दुग्ध, शंख आदि का शुक्ल वर्ण (अर्थात् गुण) मूलतः भिन्न भिन्न है, तो भी ये शुक्ल कहाते हैं, क्योंकि इन सब में 'शुक्लत्व' जाति विद्यमान है।

२. इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि का पाक (अर्थात् क्रिया) यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है तो भी 'पाकत्व' जाति के ही कारण ये सभी भिन्न विक्रिया 'पाक' कहलाती हैं।

३. अब शब्द के तीसरे भेद 'द्रव्य' को लीजिए। इस प्रसग में तीन तथ्य अवेक्षणीय हैं :

(क) यदि किसी एक बालक, एक वृद्ध और एक तोते द्वारा उच्चरित किसी व्यक्ति का 'डित्थ' नाम इनके उच्चारणों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है,

(ख) यदि स्वयं डित्थ नामक कोई व्यक्ति क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहने पर भी 'डित्थ' नाम से ही पुकारा जाता है, और

(ग) यदि 'डित्थ' नाम के अनेक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी इसी एक नाम से पुकारे जाते हैं[1]—

—तो इसका एक मात्र कारण 'डित्यत्व' जाति ही है। इसी प्रकार स्वय जातिवाचक बालक, गौ आदि शब्दों की भी यही स्थिति है। अनेक बालक अथवा गौएं परस्पर भिन्न होते हुए भी यदि बालक, गौ आदि ही कहाते हैं तो इसका कारण भी बालकत्व और गोत्व आदि जाति ही है। अतः संसार भर के सभी संकेतित शब्द केवल 'जाति' नाम से ही पुकारे जाने चाहिएं; द्रव्य, गुण और क्रिया नाम से नहीं।

निस्सन्देह इन तर्कों में सूक्ष्मता है, और इन्हीं पर आधारित उक्त मान्यता नितान्त अस्वीकार भी नहीं की जा सकती, किन्तु फिर भी, यह मान्यता व्यावहारिक न होने के कारण मनस्तोषक नहीं है, क्योंकि यदि सभी प्रकार के शब्दों को 'जाति' नाम से पुकारा जाएगा तो फिर वाचक शब्दों का वर्गीकरण करने से क्या लाभ ? तब तो वाचक (संकेतित) शब्द और जाति को पर्यायवाची ही मान लेना चाहिए। किन्तु व्यवहार एवं सुविधा दोनों दृष्टियों से ससार भर के वाचक शब्दों का वर्गीकरण करना अत्यन्त अनिवार्य है, विशेषतः तभी जबकि भारतीय प्रज्ञा इस दिशा में अत्यन्त जागरूक एव दक्ष है, और इस जागरूकता तथा दक्षता का प्रमाण यह है कि भारतीय आचार्यों ने प्रायः सभी शास्त्रीय प्रसंगों को अनेक भेदों-उपभेदों, रूपों-उपरूपों में वर्गीकृत एवं विभाजित किया है।

उक्त रूप में जाति-सम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा प्रस्तुत करने के उपरान्त एक शंका उत्पन्न होती है कि शब्द-विभाजन-प्रसंग में इस शास्त्रीय 'जाति' की आवश्यकता है भी ?

---

१ इस तथ्य को मम्मट ने प्रस्तुत नहीं किया।

यदि 'जाति' से तात्पर्य 'बालकत्व, गोत्व' आदि है तब तो उसकी आवश्यक नहीं है, क्योंकि अपने इसी पारिभाषिक अर्थ के सूचक ये शब्द व्यावहारिक भा में प्रयुक्त नहीं होते, और जब इसी प्रकार की शास्त्रीय चर्चाओं में जब 'बालकत्व, गोत्व' आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं, तो वस्तुतः ये 'बालक, गो' औ द्रव्यों के भाव है—भाव से यहां तात्पर्य वही है जो उपर्युक्त 'भाववाचक' संज्ञ के 'भाव' शब्द का है, अर्थात् 'एब्स्ट्रैक्ट'। और यदि 'जाति' से तात्पर्य 'बालक, गो' आदि शब्दों से ही है, तो फिर इनका अन्तर्भाव द्रव्य (अथवा संज्ञा) में किया जाना चाहिए। हमारा विचार है कि जाति नामक शब्द-प्रकार स्वतन्त्र रूप से स्वीकार न किया जाकर इसे द्रव्य (संज्ञा) का ही एक भेद मान लेना चाहिए, क्योंकि पतञ्जलि, मम्मट आदि की 'जाति' वस्तुतः द्रव्य की—'जातिवाचक संज्ञाओं'—की निर्णायक आधार ही है, स्वयं कोई स्वतन्त्र शब्द-प्रकार नहीं है। अस्तु!

इस प्रकार वाचक शब्द के शेष तीन प्रकार स्वीकार कर लेने के उपरान्त 'अव्यय' शब्द बच रहते हैं। हमारा विचार है कि वाचक शब्द के जितने वर्ग [और उसके भेद-उपभेद] बन सकें उनमें इसे विभक्त कर देना चाहिए। इस दृष्टि से आधुनिक व्याकरणों के वाचक शब्द के निम्नोक्त छह भेद [और उनके उपभेद] अत्यन्त उपादेय है—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण और अव्यय। हम यदि चाहे तो संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण को यास्क के अनुसार पहले केवल 'नाम' भी कह सकते हैं,[1] तथा किन्हीं आधुनिक व्याकरणकारों के अनुरूप क्रिया-विशेषण को अव्यय का एक रूप मान सकते है।

(ख) लक्षणा

लक्षणा शक्ति—मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा शब्दशक्ति कहते हैं।[2]

लक्षक शब्द—जो शब्द लक्षणा शक्ति द्वारा लक्ष्यार्थ का द्योतन करता है उसे लक्षक अथवा लाक्षणिक शब्द कहते है।

लक्ष्यार्थ—लक्षणा शक्ति द्वारा गृहीत अर्थ लक्ष्यार्थ कहाता है।

---

१ **सत्त्वप्रधानानि नामानि।** निरुक्त १.१.९
[लिंगसंख्ययोरत्र सद्भावः इति सत्त्वम्। प्रकृतिः, प्रत्ययः, विभक्तिरिति त्रेधा विभज्यमानम् एतावदेवैतन्नाम।]—दुर्गाचार्यव्याख्या।
अर्थात्, लिंग और संख्या तथा विभक्ति ये तीनों एकत्र संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण से सम्बद्ध रहते हैं, क्रिया से नहीं।

२. **मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद् वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता॥** सा० द० २.५

लक्षणा शक्ति के भेदोपभेद

लक्षणा-शक्ति के दो प्रमुख भेद हैं—रूढ़ा और प्रयोजनवती।

(क) **रूढ़ा लक्षणा**—जहां मुख्यार्थ रूढ़ि के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए वहां रूढ़ा लक्षणा मानी जाती है। रूढ़ा लक्षणा के अन्तर्गत सभी भाषाओं के मुहावरे एवं लोकोक्तियां आ जाती हैं। जैसे, दांत खट्टे करना (परास्त करना), आंखें दिखाना (क्रोध करना) इत्यादि। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य रूढ़ा लक्षणा का ही उदाहरण माना जाता है—

कवि अनूठे कलाम के बल से,
हैं बड़ा ही कमाल कर देते।
बेधने के लिए कलेजे को,
हैं कलेजा निकाल धर देते॥ —हरिऔध

इसके अतिरिक्त रूढ़ा लक्षणा के उदाहरण-स्वरूप वे शब्द भी लिये जाते है जो अपना वाच्यार्थ छोड़कर अब केवल एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ बन गये हैं, जैसे '*वह व्यक्ति अपने कार्य में कुशल है।*' यहां कुशल शब्द का अर्थ है—निपुण और यह इसका लक्ष्यार्थ है। इसका वाच्यार्थ है कुश को लाने वाला। वस्तुतः ऐसे शब्द अब अभिधा के क्षेत्र में आ गये हैं। इसी आधार पर रूढ़ा लक्षणा 'अभिधा-पुच्छभूता' कहाती है।

(ख) **प्रयोजनवती लक्षणा**—जहां मुख्यार्थ किसी प्रयोजन के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए, वहां प्रयोजनवती लक्षणा मानी जाती है।

इसका प्रसिद्ध उदाहरण है : '*गंगा में आश्रम है।*' यहां 'गंगा' शब्द का वाच्यार्थ है गंगा नदी, लक्ष्यार्थ है गंगा-तट। वक्ता का प्रयोजन है आश्रम की शीतलता और पवित्रता द्योतित करना।

यहां यह ज्ञातव्य है कि यह प्रयोजन व्यंजना का विषय है, इसी कारण प्रयोजनवती लक्षणा को 'व्यंजनाश्रित' स्वीकार किया गया है और इसी कारण प्रयोजनवती लक्षणा को 'सव्यंग्या लक्षणा' भी कहते हैं, और इसके विपरीत रूढ़ा लक्षणा को 'निर्व्यंग्या' लक्षणा, जो कि सदा व्यंग्य-रहिता होती है।

प्रयोजनवती लक्षणा के भेद—इसके दो प्रमुख भेद हैं—गौणी और शुद्धा।

इन दोनों के दो-दो उपभेद हैं—उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा। इस प्रकार ये चार भेद हुए। इन चारों के दो-दो उपभेद हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार ये आठ भेद हुए—चार गौणी के और चार शुद्धा के।[1]

---

१. यह ज्ञातव्य है कि निम्नोक्त आठ भेद विश्वनाथ के अनुसार हैं, किन्तु मम्मट के अनुसार छह् भेद हैं। उन्होंने शुद्धा के यही चार भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु गौणी के दो—गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना।

(क) १. गौणी उपादानलक्षणा सारोपा
२. गौणी उपादानलक्षणा साध्यवसाना
३. गौणी लक्षणलक्षणा सारोपा
४. गौणी लक्षणलक्षणा साध्यवसाना

(ख) ५. शुद्धा उपादानलक्षणा सारोपा
६. शुद्धा उपादानलक्षणा साध्यवसाना
७. शुद्धा लक्षणलक्षणा सारोपा
८. शुद्धा लक्षणलक्षणा साध्यवसाना

पहले इन भेदों तथा उपभेदों के लक्षण लीजिए :

—गौणी कहते हैं सादृश्य-सम्बन्ध को, और शुद्धा कहते हैं सादृश्य से इतर सम्बन्ध को। जैसे आधार-आधेय सम्बन्ध, कारण-कार्य सम्बन्ध, सामीप्य-सम्बन्ध, साहचर्य-सम्बन्ध, तात्कर्म्य सम्बन्ध, आदि।

—उपादानलक्षणा का दूसरा नाम है अजहत्स्वार्था। जहां शब्द के मुख्यार्थ का त्याग नहीं होता, और साथ ही अन्य अर्थ का भी आक्षेप होता है वहां उपादानलक्षणा होती है। लक्षणलक्षणा का दूसरा नाम जहत्स्वार्था है। जहां वाच्यार्थ अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने-आपको अर्पित कर देता है, वहां लक्षणलक्षणा मानी जाती है।

—सारोपा में उपमेय (विषय अथवा प्रस्तुत) और उपमान (विषयी अथवा अप्रस्तुत) दोनों का ग्रहण रहता है, और साध्यवसाना में केवल उपमान (विषयी) अथवा अप्रस्तुत का। इसमें उपमान (अप्रस्तुत) अपने उपमेय (प्रस्तुत) को अध्यवसित (निगीर्ण) कर लेता है।

उदाहरण

लक्षणा शब्दशक्ति के विभिन्न भेदों के उदाहरण मम्मट एवं विश्वनाथ के अनुसार इस प्रकार हैं अथवा हो सकते हैं—

—रूढ़ा लक्षणा : **कर्मणि कुशलः**।[1]

—प्रयोजनवती लक्षणा :

(१) गौणी उपादानलक्षणा सारोपा—**एते राजकुमाराः गच्छन्ति**।[2]

(२) गौणी उपादानलक्षणा साध्यवसाना—**राजकुमाराः गच्छन्ति**।[3]

(३) गौणी लक्षणलक्षणा सारोपा—**गौर्वाहीकः**।

(४) गौणी लक्षणलक्षणा—**गौर्जल्पति**।

---

१. **कुशान् लाति इति कुशलः**—कुशों को ग्रहण करने वाला, यह 'कुशल' शब्द का मुख्यार्थ है। इसका लक्ष्यार्थ है निपुण, चतुर, आदि।

२, ३. राजकुमार के साथ जाने वाले तत्सदृश अन्य कुमारों को भी राजकुमार कहना।

(५) शुद्धा उपादानलक्षणा सारोपा—कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति।
(६) शुद्धा उपादानलक्षणा साध्यवसाना—कुन्ताः प्रविशन्ति,
कलिंगः साहसिकः,[1]
गंगायां घोषः।[2]
(७) शुद्धा लक्षणलक्षणा सारोपा—आयुर्घृतम्।
(८) शुद्धा लक्षणलक्षणा साध्यवसाना—आयुरेव भक्षयामि।

(१) गौणी उपादानलक्षणा सारोपा—

स्वर्गलोक की तुम अप्सरि थीं,
तुम वैभव में पली हुई थीं। —हरिकृष्ण 'प्रेमी'

यहाँ 'तुम' और 'अप्सरि' में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी लक्षणा है। 'अप्सरि' शब्द का यहां लक्ष्यार्थ है—सर्वांगसुन्दरी, मनोमोहिनी आदि, अतः उपादानलक्षणा है। तुम और अप्सरि—उपमेय और उपमान—दोनों का प्रयोग किए जाने के कारण सारोपा है।

(२) गौणी उपादानलक्षणा साध्यवसाना—

जब हुई हकूमत आंखों पर जनमी चुपकी मैं आहों में।
कोड़ों की खाकर मार पली, पीड़ित की दबी कराहों में॥
—दिनकर

यहां 'कोड़ों की खाकर मार' का लक्ष्यार्थ है—अतिशय अत्याचार। इन दोनों में सादृश्य-सम्बन्ध होने के कारण गौणी लक्षणा है। 'कोड़ों की खाकर मार' का यहां अतिरिक्त अर्थ भी अभीष्ट है, अतः उपादानलक्षणा है। केवल अप्रस्तुत का प्रयोग किया जाने के कारण साध्यवसाना है। इसी प्रकार—

व्यक्त नील में चल प्रकाश का कम्पन सुख बन बजता था।
एक अतीन्द्रिय स्वप्नलोक का मधुर रहस्य उलझता था।
(प्रसाद : कामायनी : आशासर्ग)

यहां 'नील' का लक्ष्यार्थ है नीला आकाश, और 'चल प्रकाश' का लक्ष्यार्थ है—प्रकाशमय चंचल चन्द्रमा।

---

१. 'कलिंगः साहसिकः' में विश्वनाथ के अनुसार रूढ़ा लक्षणा है।

२. 'गंगायां घोषः' में 'गंगा' शब्द का 'तट' अर्थ किया जाए तो लक्षणलक्षणा होगी और 'गंगा-तट' अर्थ किया जाए तो उपादानलक्षणा। हमारे विचार में उपादानलक्षणा मानना ही समुचित है। घोष (आभीर-पल्ली) 'गंगा-तट' पर है, न कि 'गंगेतर यमुनादि-तट' पर—यही अर्थ वक्ता को अभीष्ट है।

(३) गौणी लक्षणलक्षणा सारोपा—

स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन । —निराला

यहां किरण और कल्लोल में सादृश्य सम्बन्ध स्थापित किया जाने के कारण गौणी है । किरण को कल्लोल बना देने से मन का बहना सम्भव हो सका है । इस प्रकार किरण का अपना अर्थ छूट गया है, अतः लक्षणलक्षणा है, उपमेय (किरण) तथा उपमान (कल्लोल) दोनों का कथन किया गया है, अतः सारोपा है ।

(४) गौणी लक्षणलक्षणा साध्यवसाना—

कथममुपरि कलापिनः कलापो विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।
कुवलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ।।

[बालकृष्ण के सबसे ऊपर मोर का मुकुट शोभित हो रहा है, उसके नीचे अष्टमी के चन्द्रमा का टुकड़ा है । उसके बाद दो चंचल कमल हैं । तब तिलकुसुम है, और उसके नीचे प्रवाल है ।]

यहां मोरमुकुट का लक्ष्यार्थ केशपाश है, अष्टमी के चन्द्रखण्ड का लक्ष्यार्थ ललाट, कमल का नेत्र, तिल-कुसुम का नासिका और प्रवाल का ओष्ठ । इसी प्रकार—

फूले कमलन यों अली, बिहँसि चितै इहिं ओर ।

[भ्रमर ने खिले कमल की ओर हंसकर देखा—अर्थात् नायक ने प्रफुल्लवदनी नायिका को देखा ।]

नायक और भ्रमर तथा नायिका और कमल में सादृश्य सम्बन्ध स्थापित करने के कारण यहां गौणी है । भ्रमर और कमल शब्दों का अपना अर्थ छूट गया है, अतः लक्षणलक्षणा है । केवल इन्ही का कथन किया गया है, अतः साध्यवसाना है ।

(५) शुद्धा उपादानलक्षणा सारोपा—

भाले आए जब वहां, चले बाण घनघोर ।

यहां 'भाले' शब्द का वाच्यार्थ है अस्त्र-विशेष और लक्ष्यार्थ है—भालाधारी पुरुष । इन दोनों अर्थों में सादृश्य-सम्बन्ध नहीं है, धार्य-धारक सम्बन्ध है, अतः शुद्धा है । 'ये' विषयी और 'भाले' विषय दोनों का कथन होने के कारण सारोपा है । 'भाला' का अर्थ 'भालाधारी' व्यक्ति होने के कारण उपादानलक्षणा है ।

(६) शुद्धा उपादानलक्षणा साध्यवसाना—

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है ।
अरी हृदय को थाम महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है ।।

—दिनकर

यहां महल का लक्ष्यार्थ है महल निवासी धनी और झोंपडी का लक्ष्यार्थ है झोंपडी-निवासी निर्धन । महल और धनी, तथा झोंपड़ी और निर्धन में आश्रय-आश्रित सम्बन्ध है, अतः शुद्धा है । महल और झोंपड़ी शब्दों का अतिरिक्त अर्थ भी अभीष्ट है अतः उपादानलक्षणा है । केवल इन्हीं विषयी शब्दों का प्रयोग किया गया है, इसके विषय 'निवासी' शब्दों का नही, अतः साध्यवसाना है ।

(७) शुद्धा लक्षणलक्षणा सारोपा

आज भुजंगों से बैठे हैं वे कंचन के घड़े दबाए । —हरिकृष्ण प्रेमी

यहाँ भुजंग शब्द का वाच्यार्थ है सर्प, और लक्ष्यार्थ है धनसंग्राहक व्यक्ति । भुजंग और वे (धनी व्यक्तियों) में तात्कर्म्य सम्बन्ध है, अतः शुद्धा है । यहाँ 'भुजंग' शब्द का सर्प अर्थ नितान्त अभीष्ट नहीं है, अतः लक्षणलक्षणा है । 'भुजंग' और 'वे' दोनों का प्रयोग किया गया है, अतः सारोपा है । इसी प्रकार—

पगली हाँ, सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल ।
देख बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल ।।
(प्रसाद : कामायनी : आशा सर्ग)

यहां 'अंचल का लक्ष्यार्थ है आकाश, और 'मणिराजी' का लक्ष्यार्थ है तारक-समूह ।

(८) शुद्धा लक्षणलक्षणा साध्यवसाना—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे, सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ।।

[आपने बहुत उपकार किया है । इसके क्या कहने हैं ? आपने अत्यन्त सौजन्य का विस्तार किया है । हे बन्धु ! इसी प्रकार का व्यवहार करते हुए आप सौ वर्ष तक जीते रहें ।]

यहां अपकारी व्यक्ति के अपकार आदि को 'उपकार' आदि कहा गया है । अतः लक्षण-लक्षणा (जहत्स्वार्था) है । इसी प्रकार—

अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी ।
आंचल में है दूध और आंखों में पानी ।। —मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ 'आंचल' का लक्ष्यार्थ है पयोधर । आंचल और पयोधर में सामीप्य-सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है । आंचल का अर्थ नितान्त छूट जाने के कारण लक्षणलक्षणा है । केवल आंचल रूप एक पक्ष का ग्रहण होने के कारण साध्यवसाना है । इसी प्रकार—

मैंने चाहे कुछ इसमें विष अपना डाल दिया हो ।
रस है यदि तो तेरे चरणों ही का झूठन है ।। —भारतीय आत्मा

यहां 'विष' शब्द का लक्ष्यार्थ है काव्य-दोष, और 'रस' शब्द का लक्ष्यार्थ है—काव्य-चमत्कार ।

—इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के ये प्रमुख आठ भेद हैं। जैसा कि पहले कह आये हैं—प्रयोजनवती लक्षणा को सव्यंग्या लक्षणा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें व्यंग्य अनिवार्यतः रहता है। यह व्यंग्य दो रूपों में सम्भव है गूढ़ और अगूढ़। लक्षणा के उक्त आठों भेद गूढ़ और अगूढ़ आधार पर सोलह प्रकार के माने गये हैं। इनके आगे भी धर्मिगत और धर्मगत—इस प्रकार बत्तीस—तथा पदगत और वाक्यगत—इस प्रकार कुल चौसठ भेद प्रयोजनवती लक्षणा के माने गये हैं। यहां इन सब पर प्रकाश डालना अनावश्यक विस्तार है।

—विश्वनाथ ने रूढ़ा लक्षणा के निम्नोक्त रूप से सोलह भेद माने हैं - पहले इसके दो भेद—उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा, फिर इन दोनों के दो-दो भेद—सारोपा और साध्यवसाना, फिर इन चारों के दो-दो भेद—गौणी और शुद्धा। फिर इन आठों के दो-दो भेद—पदगत और वाक्यगत। इस प्रकार ये सोलह भेद हुए। यद्यपि सिद्धान्ततः ये भेद सम्भव हैं पर इन सबके उदाहरण ढूंढना सरल नहीं है। अस्तु !

इस प्रकार विश्वनाथ ने प्रयोजनवती लक्षणा के चौसठ और रूढ़ा लक्षणा के सोलह भेद मानते हुए लक्षणा के कुल अस्सी भेद माने। इनमें से केवल नौ ही ज्ञातव्य हैं—प्रयोजनवती के आठ और रूढ़ा को एक ही मानना चाहिए।

००

अन्ततः एक प्रसंग और—आधुनिक काव्य में प्रयुक्त (१) प्रतीक-विधान, (२) मानवीकरण, तथा (३) विशेषण-विपर्यय भी लक्षणा-शक्ति के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कुछ निदर्शन लीजिए :

१. **प्रतीक-विधान** (Symbolism) से तात्पर्य है अभीष्ट अर्थ के लिए उससे सम्बन्धित ऐसे शब्द का अप्रस्तुत रूप में प्रयोग करना जो उससे यद्यपि साक्षात् संबधित न हो, पर उसके गुणों को प्रकट करे। उदाहरणार्थ, सुख के लिए 'प्रातः', दुख के लिए 'निशा', शून्यता के लिए 'आकाश' आदि प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग—

करुणा भौंहों में था आकाश, हास में शैशव संसार। —सु० न० पंत

यहां 'आकाश' शब्द शून्यता का प्रतीक है। ऐसे स्थलों में साध्यवसाना शुद्धा लक्षणलक्षणा स्वीकार की जा सकती है।

२. **मानवीकरण** (Personification) से तात्पर्य है अमानव अथवा अचेतन पदार्थों को मानवरूप में प्रस्तुत करना। जैसे—

नीले नभ के शतदल पर बैठी वह शारद हासिनी।
मृदु करतल पर शशिमुख धर नीरव, अनिमिष, एकाकिनी ॥

—सु० नं० पन्त

यहां प्रस्तुत विषय शरद्-ज्योत्सना है, जिसे एक नायिका (मानवी) के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, जो अपने हाथ पर इन्दुमुख रखे शान्त और चुपचाप बैठी है। स्पष्ट है कि ऐसे स्थलों में भी वाक्यगत साध्यवसाना लक्षणा मानी जाती है उक्त पद्य में वाक्यगत साध्यवसाना लक्षणलक्षणा गौणी प्रयोजनवती लक्षणा है।

विशेषणविपर्यय (Transfered epithet) से तात्पर्य है जहां विशेष्य के स्थान पर विशेषण का प्रयोग किया जाए। जैसे—'तुतला भय' अर्थात् शिशु का भय अथवा भयभीत शिशु। निम्नोक्त पद्य में इसी प्रकार का विशेषण-विपर्यय है—

तेरे क्रन्दन तक में सुगान, सुनते हैं जग के कुटिल कान।
लेने में ऐसा रस महान्, हम चतुर करें किस भांति चूक ।।
ओ कोइल, कह यह कौन कूक ?

कोयल वस्तुतः क्रन्दन करती है। किन्तु कुटिल जन इसे सुनकर इसे मधुर गान समझते हैं। 'कुटिल कान' से तात्पर्य है कुटिल व्यक्ति के कान। इस प्रकार के प्रयोग में साध्यवसाना उपादानलक्षणा शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा मानी जा सकती है।[1]

(ग) व्यंजना

व्यंजना शक्ति—अभिधा और लक्षणा द्वारा अपना-अपना अर्थ बता कर शान्त हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ का बोधन होता है उसे व्यंजना शब्दशक्ति कहते हैं।[2]

व्यंजक शब्द—जिस शब्द से व्यंजना शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे व्यंजक शब्द कहते हैं।

व्यंग्यार्थ—व्यंजना शक्ति द्वारा प्रतीत अर्थ व्यंग्यार्थ कहाता है। इसे प्रतीयमानार्थ, ध्वन्यर्थ आदि भी कहते हैं।

---

१. यहां यह उल्लेख्य है कि पाश्चात्य काव्यविधान पर आधारित प्रयोगों को भारतीय काव्य-विधान के अंगों मे समाविष्ट करने का इतना प्रयास नहीं करना चाहिए कि जिससे दुराग्रह अथवा बल-प्रयोग की गन्ध मिले। हाँ, इतना अवश्य किया जा सकता है कि किसी काव्यांग के नवीन उपभेद निर्धारित किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'कुटिल कान' जैसे प्रयोगों में विशेषणगत परम्परित उपादानलक्षणा नामक भेद अथवा इसी प्रवृत्ति का द्योतक कोई अन्य भेद स्वीकार किया जा सकता है।

२. **विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।**
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥ सा० द० २.१२

व्यंजना शक्ति के भेदोपभेद

इसके दो प्रमुख भेद हैं—शाब्दी और आर्थी।[1]

शाब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द की प्रधानता रहती है और आर्थी व्यंजना में व्यंजक अर्थ की। किन्तु इन भेदों का अभिप्राय यह नहीं है कि शाब्दी व्यंजना में केवल शब्द ही, और आर्थी व्यंजना में केवल अर्थ ही व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन व्यंजक होते हैं, अपितु दोनों अवस्थाओं में शब्द और अर्थ व्यंजक होकर एक दूसरे के सहायक बनते हैं। हाँ, शाब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द की प्रधानता रहती है तथा व्यंजक अर्थ की गौणता, और आर्थी व्यंजना में व्यंजक अर्थ की प्रधानता रहती है तथा व्यंजक अर्थ की गौणता—

तद्युक्तो व्यंजकः शब्दः यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा।
अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः॥ का० प्र० २.२०

(१) शाब्दी व्यंजना—

शाब्दी व्यंजना के दो उपभेद माने गये हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला।

(क) अभिधामूला व्यंजना—जहाँ संयोग, विप्रयोग आदि नियामक हेतुओं द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द के एक विशेष अर्थ में नियन्त्रित (निर्णीत) हो जाने पर भी उस अर्थ की प्रतीति हो, जो इस स्थिति में अवाच्य घोषित हो चुका हो, वहाँ अभिधामूला व्यंजना मानी जाती है।[2]

उदाहरण—

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिः करैः॥

इस पद्य के दो अर्थ हैं पहला वाच्यार्थ चन्द्रमा के पक्ष में, और दूसरा व्यंग्यार्थ राजा के पक्ष में—

---

१. शाब्दी और आर्थी व्यंजना का आधार है 'अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध'। अन्वय कहते हैं जिसके होने पर जो हो, और व्यतिरेक कहते हैं जिसके न होने पर जो न हो। दूसरे शब्दों में, जहां किसी शब्द के पर्यायवाची शब्द के रखने पर यदि अभीष्ट चमत्कार नष्ट हो जाए तो वहां शाब्दी व्यंजना होती है, और यदि नष्ट न हो तो वहां आर्थी व्यंजना होती है। यही 'अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध' शब्दगत और अर्थगत अलंकार गुण, दोष आदि का भी आधार है।

२. अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साभिधाश्रया॥ सा० द० २.१४

चन्द्रमा के पक्ष में—उदयाचल पर स्थित लाल-लाल रंग वाला सुन्दर चन्द्रमा कोमल किरणों से लोगों के हृदय को आकर्षित करता है।

राजा के पक्ष में—उन्नतशील सुन्दर राजा, जिसने देश को अनुरक्त किया हुआ है, थोड़ा 'कर' ग्रहण करने के कारण प्रजा के हृदय को आकृष्ट करता है।

यहां अभिधामूला व्यंजना है, क्योंकि अभिधा शक्ति के द्वारा यद्यपि प्रकरणवश पहला अर्थ चन्द्रमा के पक्ष में नियन्त्रित हो गया है, किन्तु दूसरा अर्थ फिर भी व्यंजना शक्ति के द्वारा प्रतीत हो रहा है। यहां यह ज्ञातव्य है कि ऐसे स्थलों में अलंकार-ध्वनि भी स्वीकार की जाती है। (देखिए आगे ध्वनि-प्रकरण पृष्ठ ७१)।

कर दिये विघटित वे भूभृत्,
भारत के जितने जैसे मृत। (प्रताप : खण्डकाव्य)

अकबर ने भारत के भूभृतों (राजाओं) को ऐसे विनष्ट कर दिया कि जैसे वे मृत(मरे हुए)हो गये हों। **भूभृत्** शब्द का अर्थ 'राजा' और 'पर्वत' है, तथा मृत शब्द का अर्थ है 'मरा हुआ' और 'मिट्टी का बना हुआ'। यद्यपि यहाँ प्रकरण-वश भूभृत् शब्द का अर्थ 'राजा' और मृत शब्द का अर्थ 'मरा हुआ' ही अभीष्ट है, तथापि इनका दूसरा अर्थ भी व्यजित हो रहा है—अकबर ने इन्हे ऐसे नष्ट कर दिया जैसे ये मिट्टी के बने पर्वत हों।[1] इसी प्रकार—

मुखर मनोहर स्याम रंग बरसत मुद अनुरूप।
झूमत मतवारी झमकि बनमाली रस रूप॥ —अज्ञात

यहा प्रस्तुत प्रसंग बनमाली अर्थात् मेघ का है। 'बनमाली' शब्द का यहां संयोगादि (प्रकरण) द्वारा निर्णीत है—मेघ, किन्तु अभिधामूला व्यंजना द्वारा बनमाली का अर्थ 'कृष्ण' भी प्रतीत होता है, जिससे 'मेघ' और 'कृष्ण' में उपमेय-उपमानभाव भी फलित हो जाता है। यहां शाब्दी व्यंजना इसलिए है कि 'बनमाली' शब्द का कोई पर्यायवाची शब्द—मेघ, जलद आदि रख देने से अभीष्ट चमत्कार नष्ट हो जाता है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि संयोग, विप्रयोग आदि अनेकार्थक शब्दों की वाचकता के नियामक हेतु हैं, इनसे अभीष्ट अर्थ का निर्णय किया जाता है(देखिए पृ० २६-३०), अतः इनके उदाहरण अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण न होकर इसके प्रत्युदाहरण हैं।

---

१. काव्यप्रकाश में अभिधामूला व्यंजना के 'भद्रात्मनो···'(२.१२) उदाहरण में पहला अर्थ राजापरक है और दूसरा अर्थ गज-परक—पहला अर्थ वाच्य है और दूसरा अर्थ व्यंग्य।

इसी प्रकार साहित्यदर्पण में 'दुर्गालंघित···' उदाहरण में पहला अर्थ राजा भानुदेव-परक है और दूसरा अर्थ महादेव-परक। पहला अर्थ वाच्य है और दूसरा अर्थ व्यंग्य।

यहां यह भी स्पष्ट कर दिया जाए कि श्लेष अलकार में कवि को एक से अधिक अर्थ वाच्यार्थ रूप में अभीष्ट होते हैं और वे सभी प्रस्तुत होते हैं,[१] किन्तु अभिधामूला व्यंजना में एक अर्थ प्रस्तुत होता है और दूसरा अप्रस्तुत । प्रस्तुत अर्थ वाच्य होता है, और अप्रस्तुत अर्थ व्यंग्य ।

(ख) **लक्षणामूला व्यंजना**—जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं ।

दूसरे शब्दों में जहाँ [वाच्यार्थ] और लक्ष्यार्थ के उपरान्त जिसके द्वारा प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे लक्षणामूला व्यंजना कहते है ।

लक्षणामूला व्यंजना का बहुचर्चित उदाहरण है—**'गंगायां घोषः'** अर्थात् गंगा पर घोष (आभीरों की बस्ती) है : यह इसका वाच्यार्थ है । लक्ष्यार्थ है कि घोष गंगा-तट पर है, और इसका व्यंग्यार्थ-रूप प्रयोजन लक्षणामूला व्यंजना से यह ज्ञात होता है कि घोष शीतल और पवित्र है (ऐसा शीतल और पवित्र है मानो गंगा तट पर हो ।) इसी प्रकार :

बैठि रही हमहूं हिय हारि,
कहा लगि टारियै हाथन गाजै । —पद्माकर

यह उक्ति वसन्तागम पर विरहिणी नायिका की है । 'कहा लगि टारियै हाथन गाजै' का वाच्यार्थ है हाथों से वज्र रोकना । लक्ष्यार्थ है विरह-जन्य दुःख, और इसका व्यंग्यार्थ-रूप प्रयोजन है विरह का अतिशय, जो कि लक्षणामूला व्यंजना द्वारा गम्य है ।[२]

(२) **आर्थी व्यंजना**

जो शब्दशक्ति निम्नोक्त १० विशिष्टताओं में से किसी एक के कारण अन्य अर्थ का बोध कराती है उसे आर्थी व्यंजना कहते हैं । वे विशिष्टताएं हैं—वक्ता, बोद्धव्य (श्रोता), काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव (प्रकरण), देश, काल, चेष्टा, आदि । इन्हीं विशिष्टताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना दस प्रकार की मानी गयी है ।

---

१. देखिए पृष्ठ २९

२. हमारे विचार में लक्षणामूला व्यंजना को शाब्दी न मानकर आर्थी ही मानना चाहिए, क्योंकि इसका चमत्कार अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध के आधार पर अभिधामूला व्यंजना के समान किसी शब्दविशेष पर आश्रित नहीं रहता, वह उसके अर्थ पर आश्रित रहता है ।

कतिपय उदाहरण लीजिए—

(१) वक्तृवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना—

निरखि सेज रँग रँग भरी लगी उसासैं लैन।
कछु न चैन चित्त में रह्यौ चढ़त चाँदनी रैन॥ —पद्माकर

होली के दिनों में चांदनी रात में नायिका की अवस्था का वर्णन एक सखी नायक से से कर रही है कि रंग-बिरंगी सेजों को देखकर वह आहें भरने लगती है, और विकल हो जाती है।

इस कथन से वक्ता (सखी) का व्यंग्यार्थ यह है कि नायक अत्यन्त निष्ठुर है, उसे अपनी नायिका से अलग नहीं रहना चाहिए।

(२) बोद्धव्य-(श्रोतृ-) वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना—

खो के आत्मगौरव स्वतंत्रता भी, जीते हैं।
मृत्यु सुखदायक है वीरो! इस जीने से॥ —वियोगी हरि

यहाँ श्रोतृजन के सम्बन्ध में व्यंग्यार्थ यह है कि वे अत्यन्त विलासी हैं।

(३) वाच्य-वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना—वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) की विशिष्टता के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति—

मधुमय वसन्त बन के बन अन्तरिक्ष की लहरों में।
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरों में॥
कब तुम्हें देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखें खोली थीं॥
(प्रसाद : कामायनी : कामसर्ग)

इस पद्यांश का वाच्यार्थ भी चमत्कार-पूर्ण है, और वाच्यार्थ के वैशिष्ट्य द्वारा व्यंग्यार्थ यह प्रतीत होता है कि 'मनु के मन में अज्ञात रूप से काम का उदय हो गया है, तथा काम के प्रथम आविर्भाव से उसका मन उल्लसित हो उठा है।'

(४) अन्यसन्निधि-वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना—

निहचल बिसिनी पत्र पै बलाक यहि भाँति।
मरकत भाजन पै मनौ कमल संख सुभ काँति॥[1]

[नायिका की नायक से उक्ति है—देखो, कमलिनी के पत्ते पर बैठा हुआ यह बगुला इस प्रकार सुन्दर दीखता है मानो निर्मल मरकत मणि की थाली में रखा हुआ शंख हो।] यह उक्त पद्य का वाच्यार्थ है।

---

1. पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव॥ (संस्कृतच्छाया) का० प्र० २.८

व्यंग्यार्थ यह है कि यह स्थान अत्यन्त निर्जन एवं एकान्त है—(क्योंकि यहां बगुला तक किसी के डर से पंख नहीं फड़फड़ाता, वह निश्शंक बैठा हुआ है)। यह व्यंग्यार्थ वक्ता और बोधव्य (श्रोता) से किसी अन्य अर्थात् बलाका द्वारा प्रतीत होता है। अतः यहां अन्यसन्निधि-वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना है।

उक्त निर्जनत्व रूप व्यंग्यार्थ से अन्य व्यंग्यार्थ यह भी प्रतीत होता है कि 'यह संकेत-स्थल है', इस व्यंग्यार्थ से अन्य व्यंग्यार्थ निकलता है कि भविष्य में भी यही मिलन-स्थान रहेगा, तथा यह व्यंग्यार्थ भी कि 'तुम भी अभी पहुंचे हो, अन्यथा यह बलाका उड़ गयी होती।'

(५) प्रस्ताव-(प्रकरण-) वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना—

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के प्रण में।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते।
सखी वे मुझसे कहकर जाते। —मैथिलीशरण गुप्त

यह यशोधरा की सखी से उक्ति है। यहां प्रकरणगत व्यंग्यार्थ यह है कि यदि गौतम यशोधरा से कहकर जाते तो उन्हें इस पुण्य-कार्य के करने में कोई बाधा न होती।

इसी प्रकार अन्य उपभेदों के उदाहरण भी जान लेने चाहिए।

o o

आर्थी व्यंजना के प्रकरण में अन्तिम ज्ञातव्य प्रसंग यह है कि आर्थी व्यंजना का उक्त सम्पूर्ण विषय-क्षेत्र तीन विभागों में विभक्त हो जाता है—

(१) वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति—जैसे 'निरखि सेज रँग···' आदि पद्य। (पृष्ठ ७९)

(२) लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति—जैसे 'गंगा पर आश्रम है।'

(३) व्यंग्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति—जैसे 'निहचल बिसिनी पत्र पै···' मे दिखायी गयी है।[1] (पृष्ठ ७९)

(घ) तात्पर्य वृत्ति

लक्षण—अभिधा वृत्ति द्वारा वाक्यगत प्रत्येक पद का वाच्यार्थ ज्ञात हो चुकने के उपरान्त जिस वृत्ति द्वारा उन पदों के अन्वित अर्थ (तात्पर्य) का ज्ञान होता है उसे तात्पर्य वृत्ति कहते हैं।[2]

---

१. व्यंजना शब्दशक्ति से सम्बद्ध एक अन्य प्रसंग है—'व्यंजना की स्थापना'। इसके लिए देखिए ध्वनि-प्रकरण के अन्तर्गत ध्वनि (व्यंजना) की स्थापना।

२. **तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः** [illegible] सा० द० २ २०

कुछ मीमांसक प्रभाकर के अनुयायी हैं और कुछ कुमारिल भट्ट के। प्रथम प्रकार के आचार्य 'प्राभाकर' कहाते हैं और दूसरे प्रकार के भाट्ट'। इनमें से प्राभाकर मीमांसक केवल अभिधा वृत्ति को स्वीकार करते हैं, और भाट्ट मीमांसक अभिधा के अतिरिक्त तात्पर्य वृत्ति को भी।

प्राभाकर मीमांसकों के मत में अभिधा शब्द-शक्ति के द्वारा वाक्य के अन्वित पदार्थों का बोध होता है। इसी कारण ये मीमांसक 'अन्विताभिधानवादी' कहाते हैं।[1] उदाहरणार्थ 'वह अपने घर जाता है' इस वाक्य के प्रत्येक पद का पृथक्-पृथक् अर्थ तो अभिधा द्वारा ज्ञात होता ही है, साथ ही इन पदों के अन्वित रूप का अर्थ—अर्थात् सारे वाक्य का तात्पर्य भी—इसी शक्ति द्वारा ज्ञात होता है।

किन्तु इनके विपरीत भाट्ट मीमांसकों के मत में अभिधा शक्ति के द्वारा केवल प्रत्येक पद का पृथक्-पृथक् अर्थ ही ज्ञात होता है, इसका अन्वित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ ज्ञान नहीं होता। अभिधा वृत्ति का क्षेत्र प्रत्येक पद के अर्थ निर्दिष्ट करने तक सीमित है, सम्पूर्ण वाक्य के तात्पर्य-निर्देश के लिए एक अन्य वृत्ति माननी चाहिए, वह है तात्पर्य वृत्ति। इनके मत में 'अभिधा वृत्ति से अभिहित अर्थात् प्रोक्त अर्थों का आपस में एक अन्य 'तात्पर्य' नामक वृत्ति द्वारा अन्वय-सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।' इसी कारण ये मीमांसक अभिहितान्वयवादी कहाते हैं।[2]

हम भाट्ट मीमांसकों से सहमत हैं जो इस वृत्ति को पृथक् रूप में स्वीकार करते हैं। किसी एक वाक्य के प्रत्येक पद के वाच्यार्थ (साक्षात् संकेतित अर्थ) का ज्ञान जब अभिधा शक्ति द्वारा हो चुकता है तब तात्पर्य वृत्ति द्वारा उन पदों के अन्वित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान होता है।

○ ○ ○

---

१. अन्वितानामेवाभिधानं शब्दबोध्यत्वम्, तद्वादिनोऽन्विताभिधानवादिनः।
—का० प्र० (बा० बो० टीका, पृष्ठ २६)

२. अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थापितानाम् अर्थानामन्वय इति वादिनः अभिहिता-
—————— । —वही

चतुर्थ अध्याय

ध्वनि-सिद्धान्त

[ध्वनि (व्यंग्य) तथा गुणीभूतव्यंग्य]

: प्रथम खण्ड :

संक्षिप्त इतिवृत्त

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय आनन्दवर्धन को दिया जाता है जिन्होंने अपने प्रख्यात ग्रन्थ ध्वन्यालोक में इस तत्त्व का सर्वप्रथम व्यवस्थित, व्यापक और स्वच्छ स्वरूप प्रतिपादित किया, किन्तु स्वयं इनके कथनों से प्रतीत होता है कि यह तत्त्व विद्वद्गोष्ठियों मे बहुचर्चित रहा होगा। इनसे पूर्व भामह, दण्डी, और उद्भट इन तीनों अलकारवादी आचार्यों के ग्रन्थों में यद्यपि ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं हुआ, फिर भी अनेक अलंकारों के लक्षणों अथवा उदाहरणों से, स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से, ध्वनि-तत्त्व के सकेत मिल जाते है।

आनन्दवर्द्धन ने अपने से पूर्ववर्ती 'अलकार' और 'रीति' की व्यापकता का निराकरण किया, और 'रस' को ध्वनि का एक भेद स्वीकार करते हुए भी उसे सर्वोत्कृष्ट भेद घोषित किया। उन्होंने लक्षणा शब्द-शक्ति को स्वीकार करते हुए भी ध्वनि (व्यंजना) को इससे अलग माना—लक्षणा में ध्वनि को अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि का व्यापक रूप निर्दिष्ट करने के लिए इसके तारतम्य के आधार पर समग्र काव्य को तीन भेदों में विभक्त किया तथा अलकार, गुण, रीति (सघटना) और दोष का लक्षण नवीन रूप में प्रस्तुत किया। इनके अनुसार ध्वनि काव्य की आत्मा है। आनन्दवर्द्धन के उपरान्त ध्वनि-तत्त्व का खण्डन किया गया। किन्तु आगे चलकर मम्मट ने अपने मार्मिक विवेचन द्वारा ध्वनि की पुनः स्थापना की।

'ध्वनि' शब्द का विभिन्न प्रयोग

'ध्वनि' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में पांच विभिन्न अर्थो में मिलता है—(१) व्यंजक शब्द, (२) व्यंजक अर्थ, (३) व्यंजना शब्दशक्ति, (४) व्यंग्यार्थ, और

(५) व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य। प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय 'व्यंग्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य' है।[1]

ध्वनि-सिद्धान्त की आवश्यकता

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्द्धन हैं। इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों में केवल भरत रसवादी आचार्य माने जाते हैं, तथा भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट और वामन ने रस की महत्ता को स्वीकार किया है। इन आचार्यों में भामह, दण्डी और उद्भट अलंकारवादी थे तथा वामन रीतिवादी। इन दोनों वादों का क्षेत्र काव्य के बाह्य रूप तक ही अधिकांशतः सीमित था। यदि रस, भाव आदि की चर्चा की गयी तो वह भी इन्हें रसवद्, प्रेयः आदि अलंकार मात्र मानकर; और यदि लक्षणा तथा व्यंजना की ओर संकेत किया गया तो प्रायः अलंकारों को ही लक्ष्य में रखकर तथा अत्यन्त साधारण रूप से।[2]

भरत का रसवाद भी विभावादि-सामग्री से अनुप्राणित नाटक पर घटित होता था; प्रबन्ध-काव्य (महाकाव्य और खण्डकाव्य) पर भी घटित हो जाता था; विभावादि की परिपक्व सामग्री से सम्पन्न मुक्तक रचना पर भी घटित हो जाता था, किन्तु फिर भी, ऐसे सहस्रों मुक्तक स्थल (पद्यात्मक एवं गद्यात्मक) अवशिष्ट रह जाते हैं जो विभावादि की परिपक्व सामग्री से शून्य होते हुए भी चमत्कारपूर्ण होते हैं, इन्हें रसवाद के आवेष्टन में लाना कठिन नहीं, असम्भव था, क्योंकि रस अपनी विशिष्ट शास्त्र-प्रक्रिया में परिबद्ध है, उसकी सीमा विभाव आदि सामग्री तक ही सीमित है। आनन्दवर्द्धन ने उक्त तीनों—रस, अलंकार और रीति—सिद्धान्तों की त्रुटियों को पहचाना और ध्वनि-तत्त्व का प्रवर्तन किया। इसके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन से पूर्व अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक तीन वृत्तियां भी प्रचलित थीं; किन्तु आनन्दवर्द्धन ने इनसे ज्ञात अर्थ से अतिरिक्त अर्थ की द्योतक, एक अन्य चतुर्थी, व्यंजना वृत्ति के आधार पर व्यंग्यार्थ की स्वीकृति करते हुए ध्वनि-तत्त्व का प्रतिष्ठापन किया।[3]

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने अपने से पूर्ववर्ती तीनों सिद्धान्तों और तीनों वृत्तियों की तुलना में ध्वनि-तत्त्व को व्यापक रूप प्रदान करते हुए इसे ही प्रचारित किया।

---

१. प्रथम तीन अर्थों का प्रतिपादन शब्दशक्ति-प्रकरण में यथास्थान किया गया है। इस अध्याय में अन्तिम दो अर्थों के संदर्भ में प्रकाश डाला जा रहा है।

२. देखिए पृष्ठ २६

३. **तस्मादभिधा-तात्पर्य-लक्षणा-व्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वनन-द्योतन-व्यंजन-प्रत्यायनाऽवगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।**

—ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ६०

ध्वनि-सिद्धान्त का स्रोत

(क) व्याकरण—

संस्कृत के व्याकरण-ग्रन्थों में ध्वनि अथवा व्यंजना शब्दशक्ति से सम्बन्धि एम संकेत स्पष्ट अथवा प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नहीं होते, जिन्हें काव्यशास्त्र में प्रतिपादि ध्वनि का मूल संकेत माना जा सके। काव्यशास्त्र-विषयक ध्वनि पर प्रायः व्याकर सम्मत 'स्फोट' का प्रभाव स्वीकार किया जाता है, पर वस्तुतः यह प्रभाव प्रत्यक्ष होकर अप्रत्यक्ष है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्फोटवादियों ने ध्वनि अर्था (उच्चार्यमाण शब्द अथवा नाद) को व्यंजक माना है और स्फोट को व्यंग्य माना है किन्तु इधर काव्यशास्त्रियों ने व्यंजक शब्द और व्यंजक अर्थ दोनों को ध्वनि क संज्ञा दी है। स्वयं मम्मट ने इस अप्रत्यक्ष प्रभाव को स्वीकार किया है।[1] काव्‌ शास्त्रियों ने उक्त दो अर्थों के अतिरिक्त ध्वनि शब्द का व्यवहार अन्य तीन अर्थों मे भी किया है—व्यंजना शक्ति, व्यंग्यार्थ और व्यंग्यार्थ-समन्वित काव्य। निष्कर्ष यह कि काव्यशास्त्रियों ने 'ध्वनि' शब्द लिया तो स्फोटवादियों (वैयाकरणों) से है, किन्तु इन्होंने इसका अर्थ उनसे नितान्त भिन्न एवं बहुविध किया है।[2]

किन्तु इधर बहुत आगे चलकर मम्मट के भी उपरान्त वैयाकरणों ने काव्य शास्त्रीय ध्वनि (व्यंजना शक्ति) की आवश्यकता का अनुभव किया है। नागेश जै सुप्रसिद्ध वैयाकरण ने न केवल व्यंजना का स्वरूप काव्यशास्त्रानुकूल निर्दिष्ट किया है अपितु इसे व्याकरणशास्त्र का भी एक आवश्यक तत्त्व ठहराया है।

(ख) काव्यशास्त्र—

आनन्दवर्द्धन को ध्वनि (व्यंजनाशक्ति-जन्य व्यंग्यार्थ) नामक काव्य-तत्त्व प्रवर्तक होने का श्रेय दिया जाता है। यद्यपि इन्होंने कई बार यह उल्लिखित किया कि उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि और उसके भेदों का निरूपण किया है,[3] पर अन्य आचार्यों के ग्रंथों की उपलब्धि-पर्यन्त आनन्दवर्द्धन को ही ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय मिलता रहेगा। फिर भी, यह अनुमान कर लेना सम्भव कि इन पूर्व आचार्यों के ध्वनि-विषयक मौलिक सिद्धान्तों की केवल पण्डित-गोष्ठियों मे चर्चा-मात्र रही होगी, और इन पर किसी प्रसिद्ध और स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण नहीं

---

१. देखिए पृष्ठ २२ "बुधैर्वैयाकरणैः…।"

२. विस्तृत विवरण के लिए देखिए पृष्ठ २१-२३

३ (क) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। —ध्वन्या० १.१

(ख) विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम्॥ —वही ३.३४

हुआ होगा ।[1] हां, इतना तो निश्चय है कि यह सिद्धान्त आनन्दवर्द्धन के समय में इतना प्रचलित हो गया था कि इसके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे, जिन्हें करारा उत्तर देने के लिए आनन्दवर्द्धन को अपने ग्रंथ में सर्वप्रथम लेखनी उठानी पड़ी थी। इन विरोधियों में ये तीन वर्ग प्रमुख थे—अभाववादी (अर्थात् अलंकारवादी), भक्तिवादी और अलक्ष-णीयतावादी।[2] प्रथम वर्ग को ध्वनि की सत्ता ही स्वीकृत नहीं है तथा तृतीय वर्ग इसकी सत्ता स्वीकार करता हुआ भी इसे अनिर्वचनीय कहता है, और द्वितीय वर्ग ध्वनि को भाक्त अर्थात् लक्षणागम्य अतएव गौण मानता है। सम्भव है इन सभी अथवा एक या दो वर्गों की कल्पना स्वयं आनन्दवर्द्धन ने कर ली हो; अथवा इस प्रसंग का दायित्व भी परम्परागत मौखिक शास्त्रीय चर्चाओं पर ही हो। पर इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना नितान्त कठिन है; क्योंकि एक तो भरत अथवा भामह से लेकर आनन्दवर्द्धन के हो लगभग समकालीन रुद्रट तक उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में ध्वनि-विरोधियों की चर्चा तक नहीं की गयी; और दूसरे, इन विरोधी आचार्यों तथा उनके ग्रंथों का नामोल्लेख स्वयं आनन्दवर्द्धन ने भी नहीं किया। आनन्दवर्द्धन ने इन विरोधियों के मन्तव्यों का उल्लेख किया, और उनका खण्डन भी किया—वस्तुतः इन्हीं विरोधी काव्यशास्त्रियों के मन्तव्यों में ही 'ध्वनि' के बीज निहित हैं। आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यद्यपि ध्वनि शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं मिलता, तथापि भामह, दण्डी और उद्भट तथा रुद्रट के ग्रन्थों में प्रस्तुत कतिपय अलंकारों में व्यंजना के संकेत मिल जाते हैं। सम्भवतः यही संकेत धीरे-धीरे विकसित होते-होते आनन्दवर्द्धन के समय तक ध्वनि-सिद्धान्त के रूप में प्रस्फुटित हो गये होंगे।[3]

ध्वनि (व्यंग्यार्थ) का स्वरूप—

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'जहां [वाच्य] अर्थ और [वाचक] शब्द अपने-अपने अस्तित्व को गौण बना कर जिस [विशिष्ट] अर्थ को प्रकट करते है वह (अर्थ) ध्वनि कहाता है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

—ध्वन्या० १.१३

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा भिन्न होता है उसे ध्वनि कहते है। ध्वनि को ध्वन्यर्थ, व्यंग्य, व्यग्यार्थ, प्रतीयमान, अवगमित, द्योतित अर्थ आदि भी कहते हैं।

---

१. विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनाद् इत्यभिप्रायः ।
—ध्वन्यालोक (लोचन) पृष्ठ ११

२. ध्वन्या० १.१

३. विस्तृत विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ८९-९३

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के स्वरूप को समझाने के लिए कतिपय उदाहरण प्रस्तु किये हैं—

(क) जिस प्रकार किसी अंगना के सुन्दर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य[1] भिन्न-भिन्न पदार्थ है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में प्रसिद्ध अवयव (अर्थात्, वाचक शब्द और वाच्य अर्थ) और उनसे अभिव्यक्त प्रतीयमान अर्थ भी भिन्न भिन्न होते हैं।[2]

(ख) जिस प्रकार कोई व्यक्ति प्रकाश के लिए दीपशिखा [को प्रज्वलित करने] का प्रयास करता है, उसी प्रकार ध्वन्यर्थ का अभिलाषी वाच्यार्थ की अपेक्षा रखता है।[3] दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार दीपशिखा और उससे निःसृत प्रकाश अलग-अलग पदार्थ हैं, उसी प्रकार वाच्यार्थ और उससे व्यंजना शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त ध्वन्यर्थ अलग-अलग तत्त्व हैं।

(ग) ध्वन्यर्थ तो सुन्दरियों की लज्जा की भांति [एक आन्तरिक एवं विभिन्न तत्त्व] है।[4]

उक्त उदाहरणों का निष्कर्ष यह है कि—

१. ध्वनि (व्यंग्यार्थ) शब्दार्थ से विभिन्न तत्त्व है।

२. ध्वनि लावण्य, लज्जा आदि के समान एक आन्तरिक तत्त्व है।

३. शब्दार्थ आधार एवं साधन है और ध्वनि आधेय एवं साध्य। जिस प्रकार लावण्य के लिए अंगना के अंगों, की, अथवा प्रकाश के लिए दीपशिखा की अपेक्षा रहती है उसी प्रकार ध्वनि के लिए शब्दार्थ (वाचक शब्द और वाच्य अर्थ) की अपेक्षा रहती है।[5]

---

१. लावण्य का लक्षण है—
मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥ —अज्ञात

२. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ —ध्वन्या० १.४

३. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वद् अर्थे वाच्ये तदादृतः॥ —वही १.९

४. मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥ —वही, ३.३८

५. वस्तुतः देखा जाए तो अंगना के अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य तथा दीपशिखा और प्रकाश का उदाहरण शब्दार्थ और ध्वनि पर सटीक नहीं उतरता। अवयव-समुदाय अथवा दीप को अपने-अपने साध्य की सिद्धि के लिए गौण नहीं

—संक्षेप में कहें तो वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि कहाता है।

—इसी व्यंग्यार्थ (ध्वनि) को आनन्दवर्द्धन ने और उनके अनुकरण में मम्मट और जगन्नाथ ने काव्य की आत्मा माना है।

—ध्वन्यर्थ, ध्वनि, व्यंग्यार्थ, व्यंग्य, व्यंजित अर्थ, प्रतीयमानार्थ, प्रतीतार्थ, अवगमित अर्थ आदि— ये सब पर्यायवाची शब्द है।

इसी प्रसंग में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में अन्तर भी जान लेना चाहिए, जोकि आठ तत्त्वों पर आधारित है।

१. **निमित्त कारण**—वाच्यार्थ का निमित्त कारण शब्द है, पर व्यंग्यार्थ का प्रतिभा की निर्मलता। इसी कारण वाच्यार्थ का ज्ञाता बोद्धा कहाता है और व्यंग्यार्थ का ज्ञाता सहृदय।

२. **आश्रय**—वाच्यार्थ का आश्रय शब्द है, पर व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द के अतिरिक्त शब्द का एक देश, वर्ण अथवा वर्णसंघटना आदि हैं, और कभी-कभी चेष्टादि भी।

३. **कार्य**—वाच्यार्थ का कार्य वस्तुमात्र की प्रतीति कराना है, पर व्यंग्यार्थ का कार्य चमत्कार की प्रतीति कराना है।

४. **काल**—वाच्यार्थ की प्रतीति पहले होती है, और व्यंग्यार्थ की प्रतीति बाद मे। यह अलग प्रश्न है कि यह प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि दोनों अर्थों में पूर्व और अपर का क्रम लक्षित नहीं हो पाता।

५, ६. **बोद्धा और संख्या**—एक वाक्य का वाच्यार्थ सब बोद्धाओं के लिए एक-समान होता है, पर व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न बोद्धाओं के लिए अलग-अलग। उदाहरणार्थ, 'सूर्य-अस्त हो गया' इसी वाक्य का वाच्यार्थ छात्र, दुकानदार, भगवद्भक्त, यात्री आदि सबके लिए एक है, पर व्यंग्यार्थ इन सबके लिए अलग-अलग होने के कारण अनेक हैं।

७. **विषय**—कहीं वाच्यार्थ का विषय एक व्यक्ति होता है, पर व्यंग्यार्थ का विषय दूसरा व्यक्ति।

८. **स्वरूप**—कहीं वाच्यार्थ विधि-रूप होता है, तो व्यंग्यार्थ निषेध-रूप, कहीं वाच्यार्थ संशयात्मक होता है तो कहीं व्यंग्यार्थ निश्चयात्मक; कहीं वाच्यार्थ निन्दापरक होता है तो कहीं व्यंग्यार्थ स्तुतिपरक। इसी प्रकार कहीं स्थिति इससे विपरीत भी होती है।

बनना पड़ता, पर ध्वनि की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब शब्दार्थ गौण बन जाता है।

इसी प्रसंग के अन्त में आनन्दवर्द्धन का कथन उद्धरणीय है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्दार्थ की प्रक्रिया अर्थात् वाच्यार्थ के ज्ञानमात्र से नहीं होती, अपितु वह तो केवल काव्यार्थ के तत्त्व को जानने वालों को ही होती है—

> शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
> वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।। ध्वन्यालोक १.७

: द्वितीय खण्ड :

ध्वनि-भेद [ध्वनि के तारतम्य के अनुसार काव्य के तीन प्रमुख भेद]

आनन्दवर्द्धन द्वारा ध्वनि जैसे मानसिक व्यापार और व्यापक काव्य-तत्त्व की स्थापना का सुपरिणाम यह हुआ कि एक ओर अलंकार और रीति जैसे बाह्य काव्यांगों का शताब्दियों से प्रचलित अनावश्यक महत्त्व समाप्त हो गया, और दूसरी ओर चमत्कार-पूर्ण मुक्तक काव्य भी, जो रस के क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकते थे, अब ध्वनि-काव्य के विशाल क्षेत्र में प्रवेश पा गये। इन्हें ध्वनि-काव्य के दो प्रमुख भेदों—वस्तु-ध्वनि अथवा अलंकारध्वनि में स्थान मिल गया।[1]

पर आनन्दवर्द्धन ने अब भी देखा कि दो प्रकार की ऐसी रचनाएं और हैं जो चमत्कारपूर्ण होते हुए भी ध्वनि के उक्त प्रमुख तीन रूपों में से किसी में अन्तर्भूत नहीं हो सकतीं—

(१) जिनमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम चमत्कारोत्पादक होता है; दूसरे शब्दों में, उसका अंग बन जाता है।

(२) जिनमें व्यंग्यार्थ अस्फुट रहता है।

उदारचेता आचार्य ने इनको भी काव्य जैसे महनीय अभिधान से सुशोभित करने के लिए व्यंग्यार्थ के तारतम्य की दृष्टि से, दूसरे शब्दों में—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की तारतमिक उच्चावचता के आधार पर, काव्य के निम्नोक्त तीन प्रकार गिना दिये—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र। चित्र-काव्य के अन्तर्गत शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का विषय समाविष्ट किया गया।[2]

मम्मट ने इन तीन प्रकारों को तारतम्य के अनुसार क्रमशः उत्तम, मध्यम और अवर (अधम) काव्य भी कहा है।[3] संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रतिभाशाली आचार्य जगन्नाथ ने इस विभाजन में एक अन्य कोटि का परिवर्द्धन कर दिया। उन्होंने

---

१ देखिए पृष्ठ ७०-७२

२. ध्वन्या० ३.३४, ३५, ४२, ४३

३ का० प्र० १.४,५

शब्दालंकारों को अधम काव्य कहा; अर्थालंकारों को मध्यम काव्य; तथा गुणीभूत-व्यंग्य और ध्वनि को क्रमशः उत्तम और उत्तमोत्तम।[1] इनके विचार से शब्दालंकार और अर्थालंकार को एक कोटि में रखना समुचित नहीं है।[2] किन्तु यह तो बाह्य विभाजन मात्र है. इन दोनों आचार्यों की मूल धारणा में कोई अन्तर नहीं है कि ध्वनि-काव्य का अनिवार्य तत्त्व है।

अब इन तीनों काव्य-प्रकारों के लक्षण लीजिए—

१. ध्वनि-काव्य—जहां व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ [चमत्कार] की अपेक्षा प्रधान अर्थात् अतिशय हो।[3]

२. गुणीभूतव्यंग्य-काव्य—जहां व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ [के चमत्कार] की अपेक्षा गौण अर्थात् न्यून अथवा उसके समान हो।[4]

३. चित्र-काव्य —जहां व्यंग्यार्थ अस्फुट रूप में विद्यमान हो।[5] इसका तात्पर्य यह है कि जिस काव्य में गुणों की वर्णव्यंजकता और शब्दगत अथवा अर्थगत अलंकारों का चमत्कार इतना अधिक हो कि व्यंग्यार्थ अस्फुट रह जाए, वहां चित्रकाव्य माना जाता है। अभिप्राय यह कि चित्रकाव्य में व्यंग्यार्थ का नितान्त अभाव नहीं रहता, अपितु वह अस्फुट रह जाता है। यह ज्ञातव्य है कि चित्रकाव्य को चित्रालंकार (खड्गबन्ध आदि) नहीं समझना चाहिए। चित्रालंकार तो एक शब्दालंकार है।

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-तत्त्व के तारतम्य के आधार पर समस्त काव्य को तीन प्रकारों में विभक्त कर दिया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि काव्य-चमत्कार की दृष्टि से पहले प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकार के उदाहरणों की अपेक्षा सदा उत्कृष्ट कोटि के होंगे, अथवा तीसरे प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकारों

---

१. र० गं० पृष्ठ ११

२. तत्रार्थचित्रशब्दचित्रयोरविशेषेणाधमत्वमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः।
—र० गं० १म आ० पृष्ठ २४

३. (क) इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। का० प्र० १.४
(ख) वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्। सा० द० ४.१
स्पष्ट है कि 'ध्वनि' (व्यंग्यार्थ) और 'ध्वनि-काव्य' के लक्षण में अन्तर है।

४. (क) अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्। का० प्र० १.५
(ख) अपरं तु गुणीभूतव्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। सा० द० ४.१३

५. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।
चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। अवरम् अधमम्।) — का० प्र० १.५ तथा वृत्ति
[विशेष विवेचन के लिए देखिए पृष्ठ १०६-११०, तथा अलंकार और गुण प्रकरण]

की अपेक्षा सदा हीन कोटि के होंगे, और दूसरे प्रकार के उदाहरण सदा मध्यम कोटि के ही होंगे। यह तो केवल एक शास्त्रीय परिधि-मात्र है।

ध्वनि-काव्य के भेद[1]

आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के भेदोपभेदों को आगे बढ़ाते हुए मम्मट ने ध्वनि-काव्य के पहले ५१ प्रमुख भेद माने जो परस्पर-संयोजन द्वारा कई सहस्र तक जा पहुचते है; किन्तु इनमें से ये पांच भेद ही प्रमुख हैं—

(क) लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद— १. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि, २. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि।

(ख) अभिधामूलाध्वनि के तीन भेद—१. वस्तुध्वनि, २. अलंकारध्वनि, ३ रसध्वनि।

कुछ विद्वानों के अनुसार इनमें से प्रथम दो भी वस्तुतः वस्तु-ध्वनि के ही रूपान्तर मात्र है। अतः ये विद्वान् ध्वनि के वस्तुध्वनि, अलकारध्वनि तथा रसध्वनि ये तीन प्रमुख भेद ही स्वीकार करते है। परन्तु हमारे विचार में ध्वनि के उपर्युक्त पाच प्रमुख भेद ही स्वीकार करने चाहिएं। मम्मट ने इन पांच भेदों के ५१ उपभेद माने और फिर इनके सहस्रों भेद।[2] फिर उन्होंने ध्वनि के इस विशाल क्षेत्र को दो प्रधान भागो मे

---

१. ये भेदोपभेद वस्तुतः है तो 'ध्वनि-काव्य' के, किन्तु इन्हें सक्षेप में 'ध्वनि' के भेद भी कह दिया जाता है।

२. मम्मट प्रस्तुत ध्वनि का भेदोपभेद-विवरण इस प्रकार है—

—ध्वनि के प्रमुख दो भेद—अविवक्षितवाच्य-ध्वनि, (लक्षणामूला ध्वनि) विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि (अभिधामूला ध्वनि)।

—अविवक्षितवाच्य-ध्वनि (लक्षणामूला ध्वनि) के दो भेद—अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि और अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि।

—विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि (अभिधामूला-ध्वनि) के दो भेद—संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि और असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि।

—संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि के तीन भेद—शब्दशक्त्युद्भव-ध्वनि, अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि और शब्दार्थशक्त्युद्भव-ध्वनि।

—शब्दशक्त्युद्भव-ध्वनि के दो भेद—वस्तुगत और अलंकारगत। ये दोनों दो-दो प्रकार के पदगत और वाक्यगत। इस प्रकार ये चार भेद हुए।

—अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के तीन भेद—स्वतःसम्भवी, कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्र-सिद्ध और कविनिबद्ध-मात्र प्रौढ़ोक्तिमात्र-सिद्ध।

विभक्त कर दिया है—(क) वाच्यता-सह और वाच्यता-असह। (क) वाच्यता-सह के दो रूप हैं—अविच्छिन्न और विच्छिन्न। इनमें से दूसरा रूप पहले की अपेक्षा कविकल्पना पर अधिक आश्रित रहता है। अविच्छिन्न का दूसरा नाम वस्तुध्वनि है और विच्छिन्न का, अलंकार-ध्वनि। (ख) वाच्यता-असह को रसध्वनि कहते हैं, क्योंकि रस, भाव आदि वाच्यार्थ को किसी भी रूप में सहन नहीं कर सकते—न तो 'शृंगार, शृंगार' अथवा 'रति, रति' कहने से रसाभिव्यक्ति होती है[1]; और न 'शृंगार' अथवा 'रति' शब्द के अर्थबोध से।

रसध्वनि और काव्यशास्त्रीय व्यवस्था

आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना ने शताब्दियों से चली आ रही काव्यशास्त्रीय अव्यवस्था को मिटा दिया। अब अलंकार, गुण और रीति जैसे काव्यांगों का महत्त्व सीमित हो गया। पर इसका श्रेय ध्वनि के उक्त प्रमुख तीनों भेदों में से

—ये तीनों चार-चार प्रकार के—वस्तु से वस्तु-व्यंग्य, वस्तु से अलंकार-व्यंग्य, अलंकार से वस्तु-व्यंग्य, अलंकार से अलकार व्यंग्य। इस प्रकार ये बारह भेद हुए। ये बारह भेद फिर तीन-तीन प्रकार के—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के कुल छत्तीस भेद।

—शब्दार्थशक्त्युद्भव-संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि केवल एक—वाक्यगत।

—इस प्रकार सलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के कुल ४+३६+१=४१ भेद।

—असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि को एक ही माना गया है। इसी का दूसरा नाम रस अथवा रसादि-ध्वनि है, फिर इसके निम्नोक्त छह उपभेद हैं – पद, पदांश (प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग और निपात), रचना, वर्ण, वाक्य और प्रबन्ध-गत।

—इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि के कुल ४१+६=४७ भेद।

—इस प्रकार अविवक्षितवाच्य-ध्वनि के उक्त ४ भेद और ये ४७ भेद=कुल ५१ भेद।

अब यही ५१ भेद—

(क) परस्पर गुणा करने पर, (ख) फिर इस गुणनफल को तीन प्रकार के सकर और एक प्रकार की समृष्टि से अर्थात् चार से गुणा करने पर, (ग) और फिर इस गुणनफल में उक्त शुद्ध ५१ भेद जोड़ने पर, ध्वनि के भेदों की सख्या १०४५५ तक जा पहुंचती है—

५१×५१=२६०१×४=१०४०४+५१=१०४५५।

[देखिए काव्यप्रकाश ४.४४]।

१. न हि केवलशृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। —ध्वन्यालोक १.४ (वृत्ति)

रसध्वनि को है, वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि को नहीं। स्वयं आनन्दवर्द्धन के कथनानुसार अब अलंकारों का महत्त्व इसी में रह गया कि वे शब्दार्थ के आश्रित रह कर परम्परा-सम्बन्ध से रस का उपकार करें। गुण रस के ही उत्कर्षक धर्म घोषित किये गए तथा रीति को भी रस की ही उपकर्त्री रूप में स्वीकृत किया गया। यहां तक कि दोषों की नित्यानित्य-व्यवस्था का मूलाधार भी रस को ही माना गया। रस के इस केन्द्रीकरण से निस्सन्देह यह भी सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्द्धन रसध्वनि को शेष दो ध्वनियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अपनी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, तथा कुछ-एक स्थलों पर स्पष्ट निर्देश भी। उदाहरणार्थ, ध्वनि-भेदों के उपसंहार-वाक्य में उन्होंने कवि को रसध्वनि की ओर ही अधिक प्रवृत्त रहने का आदेश दिया है, अन्य भेदों की ओर नहीं—

व्यंग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ ध्वन्यालोक ५.५

इसी प्रकार शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण प्रयोग का आदेश देते हुए आनन्दवर्द्धन ने रस (रसध्वनि) को ही प्रधान लक्ष्य बनाया है, ध्वनि के दो अन्य प्रमुख रूपों को नहीं—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः॥ ध्वन्या० ३.३२

वस्तुतः वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के उदाहरणों में ध्वनितत्त्व के प्रधान रूप से विद्यमान होने के कारण एक ओर तो वे गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरणों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं; और दूसरी ओर वाच्यता-सह होने के कारण रसध्वनि के उदाहरणों की अपेक्षा वे निम्न कोटि के माने गये हैं। विश्वनाथ ने वस्तुध्वनि [और अलंकार-ध्वनि] को भाव, रसाभास, भावाभास आदि में अन्तर्भूत करते हुए इन्हें अस्वीकृत किया है।[1] पर हमारे विचार में वाच्यता-सहत्व के कारण वे भाव आदि के अपेक्षाकृत उच्च पद पर नहीं पहुंच सकते। अस्तु!

ध्वनि के पांच प्रमुख भेदों के लक्षण तथा उदाहरण

(क) लक्षणामूलाध्वनि के दो भेद—

१. अर्थांतरसंक्रमितवाच्यध्वनि—यह ध्वनि वहां मानी जाती है जहां वाच्यार्थ अन्य (व्यंग्य) अर्थ में नितान्त संक्रमित हो जाता है। यथा—

(१) **कामं सन्तु दृढ़ं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥**

---

१. **वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहारः इति चेत्, न। अत्रापि रसाभास-वत्तयैवेति ब्रूमः।** —सा० द० १म परि पृष्ठ २४

[मैं तो कठोर-हृदय राम हूँ, सब कुछ सह लूँगा। परन्तु वैदेही (सीता) की क्या दशा होगी ? हा देवि ! धैर्य धारण करना।]

इस पद्यांश में 'राम' शब्द का वाच्यार्थ है दशरथ-पुत्र, किन्तु व्यंग्यार्थ है अत्यन्त दुःख-सहिष्णु, प्रजापालक राम। अतः यहाँ अर्थान्तर-सक्रमित-वाच्य-ध्वनि है।

(२) तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥[1]

—ध्वन्यालोक १.१ (वृत्ति)

[गुण तभी गुण बनते हैं जब वे सहृदयों द्वारा गृहीत होते हैं। सूर्य की किरणों से गृहीत कमल ही कमल होते हैं।]

यहाँ दूसरे 'कमल' शब्द का व्यंग्यार्थ है सुन्दर कमल। अतः यहाँ अर्थान्तर-सक्रमितवाच्य-ध्वनि है।

(३) प्रसन्नराघव नाटक में सीता-स्वयंवर के समय रावण की उक्ति—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूसदृशः ॥[2]

[कदली कदली ही है, करभ करभ ही है, हाथी की सूंड हाथी की सूंड ही है। वस्तुतः इनमें से किसी की भी समता मृगनयनी सीता के उन ऊरु से नहीं की जा सकती, जिसका सादृश्य तीनों लोकों में नहीं है।]

यहाँ दूसरे 'कदली' का वाच्यार्थ है केले का तना, किन्तु व्यंग्यार्थ है—जड़ कदली। इसी प्रकार दूसरे 'करभ' शब्द का वाच्यार्थ है—'हाथ की छोटी उंगली से लेकर पहुँचे तक हथेली का बाहरी भाग', किन्तु इसका व्यंग्यार्थ है भावनाशून्य करभ। इसी प्रकार दूसरे 'करिराज-कर' (सूंड) शब्द का भी व्यंग्यार्थ है भावनाशून्य सूंड! इस प्रकार यहाँ अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य-ध्वनि है।

(४) त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥

[मैं तुमसे कहता हूं यहाँ विद्वानों का समुदाय रहता है। इसलिए अपनी बुद्धि को ठीक कर के रहना।]

यहाँ 'त्वाम्' का व्यंग्यार्थ है—'उपदेश देने योग्य तुम्हें'। 'अस्मि' का व्यंग्यार्थ है—मैं आप्त (हितचिन्तक) हूं। 'वच्मि' का वाच्यार्थ है—'मैं बोलता हूँ', और व्यंग्यार्थ है—उपदेश देता हूं।' अतः यहाँ अर्थान्तर-सक्रमित-वाच्य-ध्वनि है।

---

१. ताला जाअन्ति······प्राकृत पद्य की संस्कृत छाया।
२ इसी प्रकार के पद्य रसाभास के उदाहरण माने जाते हैं। (देखिए पृष्ठ ७५)

(५) साल रही सखि, माँ की झांकी वह चित्रकूट की मुझको।
बोली जब वे मुझसे मिला न बन न भवन ही तुझको।
—साकेत (मै० श० गु०)

यहां विरहिणी उर्मिला के प्रसंग में 'भवन' शब्द का व्यंग्यार्थ है पति के साहचर्य के कारण मानसिक सुखों से पूर्ण भवन, क्योंकि उर्मिला को बाह्य सुख-सुविधा-पूर्ण भवन तो प्राप्त ही था। अत: यहां अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि है।

(६) सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर मा मुराद मनचाही।
कैसे पूछूँ गुमराही को, मैं हूं एक सिपाही॥
(भारतीय आत्मा)

'सिपाही' शब्द का वाच्यार्थ है योद्धा। किन्तु यहां यह वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ मे नितान्त संक्रमित हो गया है। 'सिपाही' शब्द का व्यंग्यार्थ है—देशरक्षक, कष्टसहिष्णु, साहसी, देश का उन्नायक, आदि।

२. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि—यह ध्वनि वहां मानी जाती है जहां वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ के द्योतनार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। यथा—

(१) 'उपकृतं बहु तत्र ·।' (देखिए पृष्ठ ७३) यहां वाच्यार्थ नितान्त अभीष्ट नहीं है।

(२) नीलोत्पल के बीच समाये मोती से आंसू के बूंद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके॥
(प्रसाद)

यहां 'नीलोत्पल' शब्द का वाच्यार्थ है कमल, और व्यंग्यार्थ है 'नेत्र'। वाच्यार्थ नितान्त अभीष्ट नहीं है, वह व्यंग्यार्थ के द्योतनार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है।

(ख) अभिधामूलाध्वनि के तीन भेद

१. वस्तु-ध्वनि—जहां व्यंग्यार्थ किसी वस्तु[1] के रूप में प्रतीत होता है वहां वस्तु-ध्वनि मानी जाती है। यथा—

(१) भ्रम धार्मिक विस्रब्ध: स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥[2]
—ध्वन्यालोक १.४ (वृत्ति)

[हे धार्मिक व्यक्ति! गोदावरी नदी के किनारे कुंज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है। अब आप निश्चिन्त होकर भ्रमण कीजिए।]

१. यहां 'वस्तु' शब्द से तात्पर्य है कोई भाव (कॉनसैप्ट)।
२ 'भम धम्मिअ······' प्राकृत पद्य की संस्कृतच्छाया।

यहां वाच्यार्थ तो विधि-रूप है कि निश्शंक होकर घूमो फिरो, किन्तु व्यंग्यार्थ निषेध-रूप है कि यहा से भाग जाओ, अब यहां सिंह आ गया है, और यह व्यंग्य वस्तुरूप है।

(२) गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थान: सन्तु ते शिवा:।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान् ॥

[हे प्रिय ! यदि तुम जाना ही चाहते हो तो जाओ, तुम्हारा मार्ग कुशल-पूर्वक हो। जिस देश मे तुम जा रहे हो, वहां मेरा जन्म हो।]

उक्त वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ है कि तेरे जाने से मेरी मृत्यु हो जाएगी और यह अर्थ वस्तु-परक है ।

(३) वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शान्त भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है। (निराला)

इस पद्य में भारत की विधवा को 'पूजा', 'दीपशिखा', 'क्रूरकाल ताण्डव की स्मृतिरेखा', 'छुटी लता' आदि से उपमित किया गया है। इन उपमानों से भारत की विधवा की क्रमशः पवित्रता, तेजस्विता, दयनीय दशा तथा असहायावस्था द्योतित होती है। 'पवित्रता' आदि वस्तु है।

२ अलंकार-ध्वनि—जहां व्यंग्यार्थ किसी अलंकार के रूप में प्रतीत होता है, वहां अलकार-ध्वनि होती है।[1] यथा—

(१) रजनीषु विमलभानो: करजालेन प्रकाशितं वीर !
धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्तिसंतति: सततम् ॥
—सा० द० ४र्थ परि०

[हे वीर, केवल रात्रि में ही चन्द्रमा की किरणों से प्रकाशित होने वाले भुवनमण्डल को अब आपकी कीर्ति दिन-रात शुभ्र कर रही है।]

कीर्ति चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक प्रकाश करती है—यह व्यतिरेक अलंकार यहां वाच्य रूप मे प्रस्तुत न होकर व्यंग्य रूप में प्रतीत होता है।[2]

---

१ यद्यपि अलकारध्वनि को 'अलंकार्यध्वनि' नाम देना चाहिए, तथापि 'ब्राह्मण-श्रमण-न्याय से इसे अलंकार-ध्वनि नाम से पुकारा गया है। 'ब्राह्मण-श्रमण-न्याय मे तात्पर्य है किसी ब्राह्मण को सन्यास लेने के उपरान्त केवल 'श्रमण' न कह कर 'ब्राह्मण-श्रमण' कहना।

२. यहां यह उल्लेख्य है कि अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण (१) 'असावुदय . ' (२)'कर दिये विपाटित···' और (३)'मुखर मनोहर···'(देखिए पृष्ठ ५२, ५३)

(२) दियो अरघ नीचे चलौ सकट भानै जाइ ।
सुचती ह्वै औरै सबै ससिहिं बिलोकैं आइ ॥ (बिहारी)

[हे सखि ! एक कहना मानो, दूज का चाँद देख चुकी, उसे अर्घ्य भी दे चुकी, अब आओ, गणेश-चतुर्थी के व्रत का पारायण करें। कहीं ऐसा न हो कि अन्य सभी सखियाँ दूज की रात्रि में भी आकाश में पूनम का चाँद उदित हुआ समझ उसे देखने के लिए इकट्ठी हो जाएं।]

'मुख-चन्द्र सोहत' इस प्रकार के उदाहरणों में रूपक अलंकार होता है, और यह वाच्य कहाता है। किन्तु उपर्युक्त पद्य में रूपक अलंकार व्यंग्य है, क्योंकि नायिका के मुख पर चन्द्रमा का आरोप रूपक अलंकार के समान स्पष्ट रूप में—वाच्य रूप में—न किया जाकर अस्पष्ट रूप में—व्यंग्य रूप में—किया गया है।

३. रसध्वनि—जहां व्यंग्यार्थ विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के संयोग पर आधारित होता है वहां रसध्वनि मानी जाती है।

काव्यशास्त्र में रस से तात्पर्य है—रसादि आठ, अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति। अतः इसे रसादि-ध्वनि भी कह सकते हैं। इसी का नाम असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य-ध्वनि है—जहां वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में क्रम होता हुआ भी लक्षित न हो।[1] ध्वनि के अन्य भेदों की तुलना में इसमें वाच्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि लक्षित नहीं होती है।

रस—विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त स्थायीभाव को रस कहते हैं। जैसे—

एक पल मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था॥ (पन्त)

यहां आलम्बन-विभाव नायक और नायिका हैं। उद्दीपनविभाव है नायिका के दृग-पलकों का ऊपर नीचे गिरना। अनुभाव है—नायक का विकम्पित पुलक। संचारि-

---

भी अलंकार-व्यंग्य के उदाहरण माने जाते है, क्योंकि उनसे भी उपमा अलकार व्यंग्यरूप में प्रतीत होता है। प्रथम उदाहरण में भूभृत् (राजा) को व्यंग्यरूप में भूभृत् (पर्वत) के समान बताया गया है, और दूसरे उदाहरण में बनमाली (घन) को व्यंग्यरूप में बनमाली (कृष्ण) के समान बताया गया है।

१. न संलक्ष्यः न सम्यग् ज्ञातः सन्नपि क्रमो यस्य व्यंग्यस्य सः

भाव हैं—लज्जा, चपलता आदि। इस सम्पूर्ण काव्य-सामग्री से ध्वनि यह निकलती है है कि दोनों में अतिशय प्रणय-भाव है—इस प्रतीति के उपरान्त काव्यानन्द प्राप्त होता है। उक्त सामग्री के कारण यहां 'रस-ध्वनि' है—इसे संक्षेप में 'रस' भी कहते हैं। रस के नौ भेदों मे से एक शृंगार रस है। यह शृंगार रस का उदाहरण है।[1]

एक उदाहरण और लीजिए—

> आए बिदेश तें प्रानप्रिया 'मतिराम' आनंद बढ़ाय अलेखैं।
> लोगन सों मिलि आंगन बैठि, घरी-सी-घटी सिगरी घर पेखैं।।
> भीतर भौन के द्वार खरी, सुकुमारि तिया तन काम बिसेखैं।
> घूंघट को पट ओट दियें, पट-ओट किए पिय को मुंह देखैं।।

पति परदेश से घर आया हुआ है। नायिका घूंघट से अपने मुँह को छिपा कर कपड़े की ओट से उसका मुंह देख रही है। नायिका के आचरण को देखकर उसके हृदय का प्रेम-भाव छलक रहा है। यह शृंगार रस (रसध्वनि) का उदाहरण है यहां व्यंग्यार्थ यह है कि दोनों में अतिशय प्रेम है। इसी प्रतीति के उपरान्त ही काव्यानन्द की प्राप्ति—रस की अभिव्यक्ति—होती है।

यहां यह उल्लेख्य है कि रसादि-ध्वनि अथवा असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि से तात्पर्य है रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता और भावशान्ति। रस का लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। अब शेष सातों के लक्षण तथा उदाहरण लीजिए।

भाव—भाव वहां माना जाता है जहां (१) निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि संचारिभाव प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित) हों, (२) देवता, राजा, राष्ट्र, गुरु आदि के प्रति रति-भाव प्रधानता से प्रतीयमान हो, (३) विभाव आदि के सम्यक् निर्वहण के अभाव मे रति, हास, उत्साह आदि स्थायिभाव उद्‌बुद्ध-मात्र रह गये हों।

(१) प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित) लज्जा रूप अवहित्था नामक सचारिभाव—

> एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
> लीलाकमलपत्त्राणि गणयामास पार्वती।।
> —(कालिदास : कुमारसम्भव)

---

१. इसी सम्बन्ध में संस्कृत का एक प्रसिद्ध उदाहरण उल्लेख्य है—

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै—
> र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
> विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।।
> —सा० द० १म परि०

(२) दियो अरघ नीचे चलौ संकट भानै जाइ ।
सुचती ह्वै औरै सबै ससिहिं विलोकैं आइ ।। (बिहारी)

[हे सखि ! एक कहना मानो, दूज का चाँद देख चुकी, उसे अर्घ्य भी दे चुकी, अब आओ, गणेश-चतुर्थी के व्रत का पारायण करें । कहीं ऐसा न हो कि अन्य सभी सखियाँ दूज की रात्रि में भी आकाश में पूनम का चाँद उदित हुआ समझ उसे देखने के लिए इकट्ठी हो जाएँ ।]

'मुख-चन्द्र सोहत' इस प्रकार के उदाहरणों में रूपक अलंकार होता है, और वह वाच्य कहाता है । किन्तु उपर्युक्त पद्य में रूपक अलंकार व्यंग्य है, क्योंकि नायिका के मुख पर चन्द्रमा का आरोप रूपक अलंकार के समान स्पष्ट रूप में—वाच्य रूप में—न किया जाकर अस्पष्ट रूप में—व्यंग्य रूप में—किया गया है ।

३. रसध्वनि—जहाँ व्यंग्यार्थ विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के संयोग पर आधारित होता है वहाँ रसध्वनि मानी जाती है ।

काव्यशास्त्र में रस से तात्पर्य है—रसादि आठ, अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति । अतः इसे रसादि-ध्वनि भी कह सकते हैं । इसी का नाम असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य-ध्वनि है—जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में क्रम होता हुआ भी लक्षित न हो ।[1] ध्वनि के अन्य भेदों की तुलना में इसमें वाच्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि लक्षित नहीं होती है ।

रस—विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त स्थायीभाव को रस कहते हैं । जैसे—

एक पल मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे ।
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था ।। (पन्त)

यहाँ आलम्बन-विभाव नायक और नायिका है । उद्दीपनविभाव है नायिका के दृग-पलकों का ऊपर नीचे गिरना । अनुभाव है—नायक का विकम्पित पुलक । संचारि-

---

भी अलंकार-व्यंग्य के उदाहरण माने जाते हैं, क्योंकि उनसे भी उपमा अलंकार व्यंग्यरूप में प्रतीत होता है । प्रथम उदाहरण में भूभृत् (राजा) को व्यंग्यरूप में भूभृत् (पर्वत) के समान बताया गया है, और दूसरे उदाहरण में बनमाली (घन) को व्यंग्यरूप में वनमाली (कृष्ण) के समान बताया गया है ।

१. न संलक्ष्यः न सम्यग् ज्ञातः सन्नपि क्रमो यस्य व्यंग्यस्य सः

-भाव हैं—लज्जा, चपलता आदि। इस सम्पूर्ण काव्य-सामग्री से ध्वनि यह निकलती है है कि दोनों में अतिशय प्रणय-भाव है —इस प्रतीति के उपरान्त काव्यानन्द प्राप्त होता है। उक्त सामग्री के कारण यहां 'रस-ध्वनि' है—इसे संक्षेप मे 'रस' भी कहते हैं। रस के नौ भेदों में से एक श्रृंगार रस है। यह श्रृंगार रस का उदाहरण है।[1]

एक उदाहरण और लीजिए—

आए विदेश तें प्रानप्रिया 'मतिराम' आनंद बढ़ाय अलेखैं।
लोगन सो मिलि आंगन बैठि, घरी-सी-घटी सिगरो घर पेखैं॥
भीतर मौन के द्वार खरी, सुकुमारि तिया तन काम विसेखैं।
घूंघट को पट ओट दियै, पट-ओट किए पिय को मुंह देखैं॥

पति परदेश से घर आया हुआ है। नायिका घूंघट से अपने मुंह को छिपा कर कपड़े की ओट से उसका मुह देख रही है। नायिका के आचरण को देखकर उसके हृदय का प्रेम-भाव छलक रहा है। यह श्रृंगार रस (रसध्वनि) का उदाहरण है यहां व्यंग्यार्थ यह है कि दोनों में अतिशय प्रेम है। इसी प्रतीति के उपरान्त ही काव्यानन्द की प्राप्ति—रस की अभिव्यक्ति—होती है।

यहां यह उल्लेख्य है कि रसादि-ध्वनि अथवा असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि से तात्पर्य है रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता और भावशान्ति। रस का लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। अब शेष सातों के लक्षण तथा उदाहरण लीजिए।

भाव—भाव वहां माना जाता है जहां (१) निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि संचारि-भाव प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित) हों, (२) देवता, राजा, राष्ट्र, गुरु आदि के प्रति रति-भाव प्रधानता से प्रतीयमान हो, (३) विभाव आदि के सम्यक् निर्वहण के अभाव मे रति, हास, उत्साह आदि स्थायिभाव उद्बुद्ध-मात्र रह गये हों।

(१) प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित) लज्जा रूप अवहित्था नामक सचारिभाव —

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

—(कालिदास : कुमारसम्भव)

---

१. इसी सम्बन्ध में संस्कृत का एक प्रसिद्ध उदाहरण उल्लेख्य है—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः—
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

—सा० द० १म परि०

[अनुरूप वर है शिव इसका
देवर्षि के कहते ही इतना,
बैठी पास पिता के ऊमा,
लगी गिनने कमल के पत्तों को वह, मानो खेल-खेल में,
झुके-झुके आनन से ।]   —हिन्दी-रूपान्तर

प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित) मति नामक संचारिभाव—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

[क्षत्रिय-संग विवाह-योग्य यह इसमें कुछ सन्देह नहीं ।
मेरा शुभ मन है अभिलाषी इस कन्या में रमता जो ।
संशयस्थल में साक्षी होती सज्जन की बस अंतःवृत्ति ।
यह कन्या है रमणी मेरी, यह ही मेरी रमणी है ॥]
—हिन्दी रूपान्तर

(२) मातृभूमि (राष्ट्र) के प्रति व्यंजित रतिभाव—

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है ।
षड् ऋतुओं का विविध-दृश्ययुत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फ़र्श नहीं मखमल से कम है ।
शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्रप्रकाश है,
हे मातृभूमि ! दिन में तरणि करता तम का नाश है ॥

—(मैथिलीशरण गुप्त : पद्य प्रबन्ध)

(३) केवल उद्बुद्ध-मात्र उत्साह नामक स्थायिभाव—

सहे वार पर वार अन्त तक
लड़ी वीर बाला सी ।
आहुति-सी गिर चढ़ी चिता पर,
चमक उठी ज्वाला-सी । (सुभद्राकुमारी चौहान)

२,३. **रसाभास और भावभास**—जहां रस अथवा भाव की व्यंजना में किसी कारणवश अनौचित्य झलकने लगे वहां क्रमशः रसाभास अथवा भावाभास माना जाता है ।

उदाहरणार्थ, (१) नायिका का उपनायक-विषयक अथवा बहुपुरुषविषयक प्रेम, (२) एक नर का, अथवा नरों का, एक समय पर अथवा अनेक समयों पर बहुनारी-प्रेम, (३) उभयनिष्ठ रति न होना, अर्थात् नायक अथवा नायिका में से केवल एक का दूसरे

के प्रति प्रेम, (४) कुलीन का नीच के प्रति अथवा नीच का कुलीन के प्रति प्रेम-वर्णन, (५) नायिका द्वारा मान करने के उपरान्त मानशान्ति न होना, (६) पशु-पक्षी विषयक प्रेम, आदि।

यहां यह ज्ञातव्य है कि स्थायिभाव की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में 'रसाभास' माना जाएगा और संचारिभाव की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में 'भावभास'।

रसाभास—

(१) कदली-कदली······(पृष्ठ ६६) में रावण का सीता के प्रति प्रेम व्यक्त किया गया है जो कि अनौचित्य-प्रवर्तित है। अतः यहां 'शृंगाराभास' है, क्योंकि यहां उभयनिष्ठ रति नहीं है।

(२) शाखालम्बितवल्कस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः।
भृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥
—(कालिदास : अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६.१७)

[शाखाओं पर जिनकी लटके वल्कल
ऐसे वृक्ष बनाने हैं—
नीचे एक मृगी मृग के सींगों से निज
बायाँ नयन खुजाती हो।] —हिन्दी रूपान्तर

यहां पशु-विषयक प्रेम वर्णित होने के कारण रसाभास है।

भावाभास—

सीता को लक्ष्य में रखकर रावण की उक्ति—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरंगितविभ्रमाङ्गी।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः॥ काव्यप्रकाश ४.४६

[वह पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुख वाली, चंचल और बड़ी-बड़ी आंखों वाली और उभरते नव-यौवन से उद्भूत हावभावों से इठला रही है, अब मैं क्या करूं? उसके साथ किस-प्रकार मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करूं और उसकी स्वीकृति प्राप्त करने का क्या उपाय है?]

यहां रावण की सीता के प्रति 'चिन्ता' अनौचित्य-प्रवर्तित है, क्योंकि यह भाव उभयपक्ष-निष्ठ न होकर एकपक्ष-निष्ठ है।[1]

---

१. यहां यह उल्लेख्य है कि काव्यप्रकाश के अनेक टीकाकारों ने यहां भावाभास इसलिए माना है कि कामशास्त्र तथा कवि-सम्प्रदाय के नियम के अनुसार पहले स्त्री

४,५,६. **भावोदय भावसंधि और भावशबलता**—जहां एक भाव के उदय का वर्णन हो वहां भावोदय माना जाता है, जहां दो भावों का वर्णन हो वहां भावसंधि, और जहां दो से अधिक भावों का वर्णन हो वहां भावशबलता मानी जाती है।

७. **भावशान्ति**—जहां एक भाव उदित होकर शान्त हो जाए वहां भावशान्ति मानी जाती है।[1]

यहां यह ज्ञातव्य है कि रसादि (रस, भाव आदि आठों) ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर ही आश्रित रहते हैं न कि वाच्यार्थ पर। उदाहरणार्थ—

(क) आः कितना **सकरुण** मुख था, आर्द्र सरोज अरुण-मुख था !

(ख) कौशल्या क्या करती थी, कुछ-कुछ **धीरज** धरती थी।

ऐसे स्थलों में 'करुण', 'धीरज' शब्दों के प्रयोग कर देने पर भी करुण रस की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः रसादि को ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर आश्रित माना गया है, न कि वाच्यार्थ पर, और इसी कारण आनन्दवर्द्धन ने रसादि को ध्वनि का ही एक भेद माना है।

रसध्वनि (रसादि-ध्वनि) को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि भी कहते हैं, क्योंकि अन्य ध्वनि-भेदों की तुलना में इसमें वाच्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि लक्षित नहीं होती।

पीछे लिख आये हैं कि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के अनेक उपभेद हैं, जैसे प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग, निपात (अव्यय) आदि से सम्बन्धित।[2] एक निपात-गत उदाहरण लीजिए—

मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरं विक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥

—अभिज्ञान० ३.२२

के अनुराग का वर्णन करना चाहिए. फिर पुरुष के अनुराग का, परन्तु यहां पुरुष के अनुराग का वर्णन किया गया है और वह भी अननुरक्ता स्त्री के प्रति। परन्तु इन टीकाकारों द्वारा भी 'भावाभास' मानने का मुख्य हेतु यही माना गया है कि यहां उभयनिष्ठ रति नहीं है।

१. (क) पाठकों से अपेक्षा की जाती है कि वे इनके उदाहरण स्वयं ढूंढ लें।

(ख) ये रस, भाव आदि परस्पर मिश्र भी होते हैं और अमिश्र भी।

२. देखिए पृष्ठ ६७

[अपनी उंगली से जो ढपती बार-बार अपने अधरों को।
'ऊँह, ऊँह', 'न-न-न'—कुछ ऐसी ध्वनि थी करती जो।
उस रमणी के, प्यारे पलकों वाली रमणी के मुख को।
मैंने उठाया ऊपर को, पर-हाय ! उसे न चूम सका।]

—हिन्दी रूपान्तर

उक्त संस्कृत-पद्य में 'तु' और हिन्दी-रूपान्तर पर हाय !' इन निपातों से दुष्यन्त का अनुताप व्यक्त होता है। इसी प्रसग में गालिब का एक शेर प्रस्तुत है—

मुफ्त की पीते हैं मै और समझते हैं कि हां !
रंग लाएगी हमारी फ़ाकामस्ती एक दिन।

यहाँ 'हाँ' निपात से कवि की जीवन के प्रति फक्कड़पन और निश्चिन्तता व्यक्त होती है।

इस प्रकार ध्वनि के ये पाच प्रमुख भेद हैं। यही भेद पद, वाक्य, प्रबन्ध आदि के रूप में बहुसंख्यक बन जाते हैं। (देखिए पृष्ठ ६६-६७)यहां यह उल्लेख्य है कि यह आवश्यक नहीं कि प्रबन्धगत ध्वनि का काव्यचमत्कार मुक्तक-ध्वनि (पदगत, वाक्यगत) के काव्यचमत्कार की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है। मुक्तक भी प्रबन्ध-काव्यों के समान चमत्कारपूर्ण होते है, उदाहरणार्थ अमरुक कवि के मुक्तक।[1]

गुणीभूतव्यंग्य

लक्षण तथा भेद

जहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण (अप्रधान) अर्थात् न्यून अथवा समान रूप से चमत्कारक हो वहां गुणीभूतव्यंग्य काव्य माना जाता है।[2] यह गौणता आठ कारणों से सम्भव है, अतः गुणीभूतव्यंग्य के निम्नोक्त प्रमुख आठ भेद बताये गये हैं—

१. अगूढ़व्यंग्य, २. अपरांगव्यंग्य, ३. वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यंग्य, ४. स्फुटव्यंग्य, ५. संदिग्ध-प्राधान्यव्यंग्य, ६. तुल्यप्राधान्यव्यंग्य, ७. काक्वाक्षिप्तव्यंग्य, ८. असुन्दर-व्यंग्य।

---

१. मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा हि अमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव। (ध्वन्यालोक)

२. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥' ध्वन्यालोक ३.३५

फिर यही आठ भेद ध्वनि के उक्त भेदों में से अधिकतर भेदों के साथ मिलकर गुणन प्रक्रिया द्वारा असंख्य बन जाते हैं — न केवल हज़ारों, लाखों, बल्कि करोड़ों तक जा जा पहुँचते हैं। (देखिए काव्यप्रकाश ४.४६,४७ तथा टीकाभाग।)

१. अगूढ़व्यंग्य—जहाँ व्यंग्यार्थ गूढ़ न हो, अपितु स्पष्ट हो वहाँ अगूढ़व्यंग्य नामक गुणीभूतव्यंग्य-काव्य माना जाता है। जैसे—

पुत्रवती युवती जग सोई।
रामभक्त सुत जाकर होई॥ —तुलसी

इस पद्यांश का वाच्यार्थ स्पष्ट है। व्यंग्यार्थ यह है कि जिनके पुत्र रामभक्त हैं, केवल वहीं माताएं प्रशंसनीय हैं, शेष नहीं। इस प्रकार यहां पुत्रवती शब्द का व्यंग्यार्थ है प्रशंसनीय जननी, किन्तु यह 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' वाच्यार्थ के ही समान अगूढ़ (स्पष्ट) है। अत: यहां अगूढ़ गुणीभूतव्यंग्य है। वस्तुत: व्यंग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा गूढ़ होना चाहिए, इस स्थिति में ध्वनि-काव्य माना जाता है, अन्यथा गुणीभूतव्यंग्य।

२. अपरांगव्यंग्य—जहां एक व्यंग्य किसी दूसरे व्यंग्य का अंग बन जाए। इसका अभिप्राय यह है कि जहां ध्वनि-भेदों में से कोई एक किसी दूसरे का, अथवा वाच्यार्थ का अंग बनकर उसका उत्कर्ष करे, और साथ ही, जिसका अंग बने उस अंगी की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण भी हो।

(१) रस की अंगता को रसवत् अलंकार कहते हैं, (२) भाव की अंगता को प्रेयस्वत् अलंकार, (३) रसाभास और भावाभास की अंगता को ऊर्जस्वि अलंकार और (४) भावशान्ति की अंगता को समाहित अलंकार। (५) भावोदय, भावसंधि और भावशबलता की अंगता को क्रमश: भावोदय, भावसंधि और भावशबलता अलंकार कहते हैं।

इन अंगभूतों को 'अलंकार' इसलिए कहा जाता है कि ये अपने अंगीभूतों को अलंकृत करते हैं—अंग अलंकार हैं और अंगी उनके द्वारा अलंकरणीय। उदाहरण लीजिए—

रणभूमि में कट कर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को देखकर उसकी पत्नी विलाप कर रही है—

(१) अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥ काव्यप्रकाश ५.११६

[मेरी रशना को खींचने वाला, पीन स्तनों का मर्दन करने वाला, नाभि, ऊरु तथा जघन का स्पर्श करने वाला तथा नीवी को खोलने वाला यह हाथ है।]

यहां शृंगार रस का वर्णन यद्यपि चमत्कारपूर्ण है, किन्तु यह करुण रस का अंगबनकर इसकी पुष्टि कर रहा है। अतः अपरांग गुणीभूतव्यंग्य है।

(२) सपनो है संसार यह रहत न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ काल कहाँ धौं होय॥ (अज्ञात)

'मिली पिय मनमानी करौ' इस पद्यांश में शृंगार रस की सामग्री है और शेष अंश में शान्त रस की। इस पद्य में शान्त रस अंग अर्थात् पोषक है और शृंगार रस उससे पोषित होने के कारण अंगी है, किन्तु शान्त रस (अंग) शृंगार रस (अंगी) की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण बन गया है। अतः अपरांग है। यही उदाहरण रसवत् अलंकार का भी है। इसी प्रकार जिन पद्यों में महादेव, पार्वती आदि के प्रति भक्ति की व्यंजना करते हुए भी कवि उनका रति-सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक चमत्कारपूर्ण रूप में वर्णित करता है, वहां भी अपरांग गुणीभूतव्यंग्य होता है।

३. **वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्य**—जहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसका अंग बन जाए।[1]

(१) वसुधा पर ओस बने बिखरे
हिमकण आँसू जो क्षोभ भरे—
ऊषा बटोरती अरुण गात। (प्रसाद)

उषाकाल का वर्णन यहा प्रस्तुत है। वाच्यार्थ है—पृथ्वी पर आंसू के रूप में बिखरे ओस-कणों को उषा बटोर लेती है। व्यंग्यार्थ है जीवन का शुभ प्रभात व्यक्ति के पूर्ण दुःखों को मिटा देता है। यह व्यंग्यार्थ उक्त वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए अंग (पोषक) बन गया है। इसके जानने के उपरान्त उषाकाल द्वारा ओस के बटोरने का विषय चमत्कार-पूर्ण हो उठता है।

(२) खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के,
प्रथम वसन्त में गुच्छ गुच्छ॥ (निराला)

जगत् में वसन्त के आगमन पर नवीन तथा सुगन्धित पुष्पों के गुच्छ-समूह खिल उठे—यह उक्त पद्य का वाच्यार्थ है। व्यंग्यार्थ यह है कि इस नायिका के यौवन में पदार्पण करते ही उसके मन में अनेक लालसाएं उदित हो उठीं। यह व्यंग्य तुरन्त

---

१. 'अपरांग' में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अंग बनकर उसका उत्कर्ष करता है, किन्तु वाच्यसिद्ध्यंग' में वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए व्यंग्यार्थ की अपेक्षा रहती है।

फिर यही आठ भेद ध्वनि के उक्त भेदों में से अधिकतर भेदों के साथ मिलकर गुण-प्रक्रिया द्वारा असंख्य बन जाते हैं—न केवल हजारों, लाखों, बल्कि करोड़ों तक जा जा पहुंचते हैं। (देखिए काव्यप्रकाश ४.४६,४७ तथा टीकाभाग।)

१. **अगूढ़व्यंग्य**—जहां व्यंग्यार्थ गूढ़ न हो, अपितु स्पष्ट हो वहां अगूढ़व्यंग्य नामक गुणीभूतव्यंग्य-काव्य माना जाता है। जैसे—

पुत्रवती युवती जग सोई।
रामभक्त सुत जाकर होई॥ —तुलसी

इस पद्यांश का वाच्यार्थ स्पष्ट है। व्यंग्यार्थ यह है कि जिनके पुत्र रामभक्त हैं, केवल वही माताए प्रशंसनीय हैं, शेष नहीं। इस प्रकार यहां पुत्रवती शब्द का व्यंग्यार्थ है प्रशंसनीय जननी, किन्तु यह 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' वाच्यार्थ के ही समान अगूढ (स्पष्ट) है। अतः यहां अगूढ़ गुणीभूतव्यंग्य है। वस्तुतः व्यंग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा गूढ होना चाहिए, इस स्थिति में ध्वनि-काव्य माना जाता है, अन्यथा गुणीभूतव्यंग्य।

२. **अपरांगव्यंग्य**—जहां एक व्यंग्य किसी दूसरे व्यंग्य का अंग बन जाए। इसका अभिप्राय यह है कि जहा ध्वनि-भेदों में से कोई एक किसी दूसरे का, अथवा वाच्यार्थ का अंग बनकर उसका उत्कर्ष करे, और साथ ही, जिसका अंग बने उस अंगी की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण भी हो।

(१) रस की अगता को **रसवत् अलंकार** कहते हैं, (२) भाव की अंगता को प्रेयस्वत् अलंकार, (३) रसाभास और भावाभास की अंगता को **ऊर्जस्वि अलंकार** और (४) भावशान्ति की अंगता को समाहित अलंकार। (५) भावोदय, भावसंधि और भावशबलता की अंगता को क्रमशः भावोदय, भावसंधि और भावशबलता अलंकार कहते हैं।

इन अंगभूतों को 'अलंकार' इसलिए कहा जाता है कि ये अपने अगीभूतों को अलंकृत करते हैं—अंग अलंकार हैं और अंगी उनके द्वारा अलंकरणीय। उदाहरण लीजिए—

रणभूमि में कट कर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को देखकर उसकी पत्नी विलाप कर रही है—

(१) अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥ काव्यप्रकाश ५.११६

[मेरी रशना को खीचने वाला, पीन स्तनों का मर्दन करने वाला, नाभि, ऊरु तथा जघन का स्पर्श करने वाला तथा नीवी को खोलने वाला यह हाथ है।]

यहां शृंगार रस का वर्णन यद्यपि चमत्कारपूर्ण है किन्तु यह करुण रस का अंग बनकर इसकी पुष्टि कर रहा है। अतः अपरांग गुणीभूतव्यंग्य है।

(२) **सपनो है संसार यह रहत न जाने कोय।**
मिलि पिय मनमानी करौ काल कहां धौं होय॥ (अज्ञात)

'मिली पिय मनमानी करौ' इस पद्यांश में शृंगार रस की सामग्री है और शेष अंश में शान्त रस की। इस पद्य में शान्त रस अंग अर्थात् पोषक है और शृंगार रस उससे पोषित होने के कारण अंगी है, किन्तु शान्त रस (अंग) शृंगार रस (अंगी) की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण बन गया है। अतः अपरांग है। यही उदाहरण रसवत् अलकार का भी है। इसी प्रकार जिन पद्यों में महादेव, पार्वती आदि के प्रति भक्ति की व्यंजना करते हुए भी कवि उनका रति-सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक चमत्कारपूर्ण रूप में वर्णित करता है, वहां भी अपरांग गुणीभूतव्यंग्य होता है।

३. **वाच्यसिद्धयंगव्यंग्य**—जहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसका अंग बन जाए।[1]

(१) **वसुधा पर ओस बने बिखरे**
हिमकण आँसू जो क्षोभ भरे—
ऊषा बटोरती अरुण गात। (प्रसाद)

उषाकाल का वर्णन यहां प्रस्तुत है। वाच्यार्थ है—पृथ्वी पर आंसू के रूप में बिखरे ओस-कणों को उषा बटोर लेती है। व्यंग्यार्थ है जीवन का शुभ प्रभात व्यक्ति के पूर्ण दुःखों को मिटा देता है। यह व्यंग्यार्थ उक्त वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए अंग (पोषक) बन गया है। इसके जानने के उपरान्त उषाकाल द्वारा ओस के बटोरने का विषय चमत्कार-पूर्ण हो उठता है।

(२) **खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के,**
प्रथम वसन्त में गुच्छ गुच्छ॥ (निराला)

जगत् में वसन्त के आगमन पर नवीन तथा सुगन्धित पुष्पों के गुच्छ-समूह खिल उठे—यह उक्त पद्य का वाच्यार्थ है। व्यंग्यार्थ यह है कि इस नायिका के यौवन में पदार्पण करते ही उसके मन में अनेक लालसाएं उदित हो उठीं। यह व्यंग्य तुरन्त

---

१. 'अपरांग' में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अंग बनकर उसका उत्कर्ष करता है, किन्तु 'वाच्यसिद्धयंग' में वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए व्यंग्यार्थ की अपेक्षा रहती है।

समझ नहीं आता, बहुत देर तक सोचने के बाद कठिनता से समझ आता है, अतः अस्फुट है।[1]

(३) निशा को धो देता राकेश चाँदनी में जब अलकें खोल।
कली से कहता था मधुमास बता दो मधु मदिरा का मोल।।

(महादेवी वर्मा : यामा)

यहां यद्यपि 'राकेश' से नायक की, निशा' से नायिका की, मधुमास' से नायक की और 'कली' से नायिका की प्रतीति होती है, किन्तु इस व्यंग्यार्थ की अपेक्षा स्वयं वाच्यार्थ कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण है, और व्यंग्यार्थ इस वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसका अंग बनकर सहायता कर रहा है।

४. अस्फुटव्यंग्य—जहां व्यंग्य स्फुट न हो, अर्थात् क्लिष्ट हो, बहुत देर से समझ में आए।

दृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्।।

—काव्यप्रकाश ५.१२८

[आपका दर्शन न होने पर दर्शन की उत्कण्ठा रहती है और दर्शन होने पर वियोग का भय रहता है। इस आपका दर्शन न होने और होने, दोनों स्थितियों में आपसे सुख नहीं मिलता।]

यहां नायिका का अभिप्राय यह है कि आप ऐसा उपाय करें कि आप न तो अदृष्ट रहें और न आपके वियोग का भय हो, अर्थात् सदा मेरे पास रहें। किन्तु यह व्यंग्यार्थ अस्फुट (क्लिष्ट) है।

५. सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्य—जहां वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में किस की प्रधानता है—यह सन्देह बना रहे।

थके नयन रघुपति छवि देखी। पलकनहूं परिहरी निमेखी।
अधिक सनेह देह भई भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।। (तुलसी)

जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखती रह जाती है वैसे सीता भी राम को देखती रह गयी—यह वाच्यार्थ है। अधिक स्नेह के कारण सीता की देह भोरी (स्तब्ध) रह

---

१. यह ज्ञातव्य है कि चित्रकाव्य में भी व्यंग्य अस्फुट माना गया है (दे० पृ० ६५), किन्तु वहां अस्फुटता का कारण है गुण अथवा अलंकार के चमत्कार का आधिक्य। यहा अस्फुटता भाव की दूरूहता के कारण है। यदि इस भेद का नाम अस्फुट-व्यंग्य न होकर अस्पष्ट-व्यंग्य अथवा कोई ऐसा नाम होता तो समुचित रहता।

गयी इससे जडता सचारिभाव व्यजित होता है। उक्त वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ म से कौन-सा अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है इसमें सन्देह है।

६. **तुल्यप्राधान्यव्यंग्य**—जहां वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का चमत्कार लगभग एक-समान प्रतीत हो।

पश्चिम जलधि में
मेरी लहरीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानो चूमने को मुझको
और सांस लता था समीर मुझे छूकर।

(प्रसाद : लहर, 'प्रलय की छाया')

यहा वाच्यार्थ है कमला की लम्बी-लम्बी 'केशराशि' का तथा 'प्रेमोच्छ्वासों' का क्रमशः 'जलधि की तरंगो' और 'समीर' के उपमान द्वारा वर्णन, और व्यंग्यार्थ है कमला का अपने रूप-सौन्दर्य पर स्वयं मुग्ध होना। वस्तुतः ये दोनों अर्थ ही तुल्य रूप से चमत्कार-पूर्ण प्रतीत होते हैं।

७. **काक्वाक्षिप्तव्यंग्य**—जहां व्यंग्यार्थ काकु द्वारा आक्षिप्त (स्वतः गृहीत) हो। काकु कहते है भिन्न कण्ठ-ध्वनि को।

(१) कौरवों के आगे युधिष्ठिर की ओर से किये गये सन्धि प्रस्ताव को सुनकर भीमसेन की सहदेव के प्रति उक्ति—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्, दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥

[मैं रण में क्रोध से सौ कौरवों को न मारूंगा? दुश्शासन की छाती से रुधिर न पीऊंगा? गदा से दुर्योधन की टांगें न तोड़ूंगा? तुम्हारे राजा (मेरे नहीं) पण (पाच ग्रामों के लेने की शर्त) पर सन्धि कर लें।]

काकु द्वारा निषेध का अर्थ विधि-परक ही द्योतित होता है कि मैं कोपवश सौ कौरवों को मार डालूंगा, आदि।

(२) **प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण का वरण?**
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर, मानव का?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का?

'ताज' (पन्त : आधुनिक कवि)

क्या यही प्रेम की अर्चना है कि हम मरण का वरण करें? इसका व्यंग्यार्थ है कि ऐसा करना समुचित नहीं है, और यह व्यंग्यार्थ काकु पर आश्रित है।

(३) किती न गोकुल की बधू काहिन किहि सिखि दीन ।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन ॥ (बिहारी)

(४) —अरावली शृंग सा समुन्नत सिर किसका ? (प्रसाद)
—वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ? (प्रसाद)
—कितना सोहाग था कैसा अनुराग था ? (प्रसाद)

आदि प्रश्नवाचक कथनों से जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह काक्वाक्षिप्त कहाता है।

८. असुन्दरव्यंग्य—जहां वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सुन्दर न हो।

(१) निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप पाओगे ?

'केश-पाश के अन्धकार में न छिप सकना'—इस वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ है कि मैं तुम्हे खोज लूगा। किन्तु यह व्यंग्यार्थ चमत्कारपूर्ण नही है—उधर वाच्यार्थ अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है।

(२) ऐसे परुष वचन सुन पति के क्षुब्ध हुई वह बाला।
भ्रू मिस से उसने स्मर का सा चाप भग कर डाला ॥
—शकुन्तला (मैं० श० गुप्त)

दुष्यन्त के निरादर-सूचक वचन सुन कर शकुन्तला अति क्षुब्ध हुई। मानो उसने अपनी टेढ़ी भौंहों के व्याज से कामदेव के धनुष का भंग कर दिया हो। इस वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ यह है कि शकुन्तला ने अपनी क्रुद्ध मुखाकृति द्वारा अपना मूक क्षोभ व्यक्त किया। किन्तु इस व्यंग्यार्थ की तुलना मे उक्त वाच्यार्थ कहीं अधिक सुन्दर है।

चित्रकाव्य : अलंकार-निबन्ध

ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने व्यंग्यार्थ-प्रधान और व्यंग्यार्थाप्रधान काव्य को क्रमशः ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य नाम दिया है तो इनसे इतर, अर्थात् व्यंग्यरहित काव्य को 'चित्र' नाम से पुकारा है।[1] मम्मट, अप्पय्यदीक्षित और नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी इस दिशा मे आनन्दवर्द्धन का अनुकरण किया है।[2] इन चारों आचार्यों के मत में चित्रकाव्य शब्दालंकार और अर्थालङ्कार का तो पर्याय है ही, साथ ही मम्मट और नरेन्द्रप्रभसूरि ने अलंकार के अतिरिक्त गुण-युक्त काव्य को भी 'चित्र' कहा है,[3] पर यहां उनका 'गुण' शब्द द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों के द्योतक माधुर्यादि गुणों का बोधक न होकर गुणाभिव्यंजक रचना का

---

१. गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥ ध्वन्यालोक ३.४२

२ (क) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। काव्यप्रकाश १.५
(ख) चित्रमीमांसा, पृष्ठ ५, (ग) अलंकारमहोदधि १.१७

३ चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। का० प्र० १म उ०

ही पर्याय है जैसा कि उनके उदाहरणों से भी स्पष्ट है।[1] वस्तुत रस के धर्मस्वरूप 'गुण' को 'नीरस' चित्रकाव्य का अंग समझना युक्तियुक्त है भी नहीं।[2]

आनन्दवर्द्धन के शब्दों में चित्र (अवर, अधम) काव्य रसभावादि-तात्पर्यरहित और व्यंग्यार्थ-विशेष के प्रकाशन की शक्ति से शून्य है। वह केवल शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित एक प्रतिकृति मात्र है।[3]

व्यंग्यरहितता चित्रकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। पर यहाँ एक शङ्का उपस्थित होती है। संसार की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो काव्य में वर्णित होने पर निमित्त-नैमित्तिक पद्धति के अनुसार अन्ततोगत्वा विभाव रूप से रस या भाव का अंग न बन जाती हो। अत: चित्रकाव्य को वस्तु-व्यंग्य और अलङ्कार-व्यंग्य से रहित तो कह सकते है, पर उसे रस-व्यंग्य से रहित कभी नहीं कह सकते।[4] अपनी ही इसी शङ्का का समाधान आनन्दवर्द्धन ने स्वयं कर दिया है—'यह सत्य है कि रसादि-प्रतीति-रहित कोई भी काव्य सम्पन्न नही हो सकता। पर यह सब कुछ कवि की विवक्षा पर आधृत है। जब कवि रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित होकर शब्दालंकार अथवा अर्थालङ्कार की रचना करता है, तब उस रचना में रस आदि के किसी न किसी रूप मे होने पर भी रसादि-शून्यता की कल्पना की जाती है। ऐसी अवस्था में जो रसादि-प्रतीति होती भी है, वह परिदुर्बल होती है।[5] अत: चित्रकाव्य वह 'अलङ्कार-निबन्ध' है, जहाँ

---

१. अत्र गुणपदं तद्व्यंजकपरम्। अन्यथा तस्य रसधर्मतया तन्निबन्धनचमत्कारित्वे चित्रत्वानुपपत्तेः। का० प्र० पृष्ठ २२, टीका-भाग।

२. रस तथा ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों की स्थिति दो प्रकार की है—(१) ये क्रमशः द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति नामक चित्त-वृत्तियों से संयुक्त आह्लाद आदि के पर्याय हैं और इसीलिए रस के नित्य धर्म हैं। (२) ये तीनों क्रमशः अपनी-अपनी नियत वर्णावलि और रचना के भी अभिव्यंजक हैं। मम्मट और उनके अनुसार नरेन्द्रप्रभसूरि जब चित्रकाव्य को गुणयुक्त काव्य भी कहते है तो उनका तात्पर्य है गुणाभिव्यंजक वर्णों से युक्त रचना।

३. रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्य-वाचक-वैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।
—ध्वन्यालोक ३.४२ (वृत्ति)

४. यत्र वस्त्वलंकारान्तरं वा व्यंग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। × × × [काव्य-] वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्वेन। —वही ३.४२ वृत्ति

५. वही ३.४२ वृत्ति

(३) किती न गोकुल की बधू काहि न किहि सिखि दीन ।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन ।। (बिहारी)

(४) —अरावली शृंग सा समुन्नत सिर किसका ? (प्रसाद)
—वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ? (प्रसाद)
—कितना सोहाग था कैसा अनुराग था ? (प्रसाद)

आदि प्रश्नवाचक कथनों से जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह काक्वाक्षिप्त कहाता है ।

८. असुन्दरव्यंग्य—जहां वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सुन्दर न हो ।

(१) निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप पाओगे ?

'केश-पाश के अन्धकार में न छिप सकना'—इस वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ है कि मैं तुम्हें खोज लूंगा । किन्तु यह व्यंग्यार्थ चमत्कारपूर्ण नहीं है—उधर वाच्यार्थ अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है ।

(२) ऐसे परुष वचन सुन पति के क्षुब्ध हुई वह बाला ।
भ्रू मिस से उसने स्मर का सा चाप भग कर डाला ।।
—शकुन्तला (मै० श० गुप्त)

दुष्यन्त के निरादर-सूचक वचन मुन कर शकुन्तला अति क्षुब्ध हुई । मानो उसने अपनी टेढ़ी भौंहों के व्याज से कामदेव के धनुष का भग कर दिया हो । इस वाच्यार्थ का व्यग्यार्थ यह है कि शकुन्तला ने अपनी क्रुद्ध मुखाकृति द्वारा अपना मूक क्षोभ व्यक्त किया । किन्तु इस व्यंग्यार्थ की तुलना मे उक्त वाच्यार्थ कहीं अधिक सुन्दर है ।

चित्रकाव्य : अलंकार-निबन्ध

ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने व्यंग्यार्थ-प्रधान और व्यंग्यार्थाप्रधान काव्य को क्रमश: ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य नाम दिया है तो इनसे इतर, अर्थात् व्यंग्यरहित काव्य को 'चित्र' नाम से पुकारा है ।[1] मम्मट, अप्पय्यदीक्षित और नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी इस दिशा मे आनन्दवर्द्धन का अनुकरण किया है ।[2] इन चारों आचार्यों के मत में चित्रकाव्य शब्दालंकार और अर्थालङ्कार का तो पर्याय है ही, साथ ही मम्मट और नरेन्द्रप्रभसूरि ने अलंकार के अतिरिक्त गुण-युक्त काव्य को भी 'चित्र' कहा है,[3] पर यहां उनका 'गुण' शब्द द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों के द्योतक माधुर्यादि गुणों का बोधक न होकर गुणाभिव्यंजक रचना का

---

१. गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ।। ध्वन्यालोक ३.४२

२. (क) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् । काव्यप्रकाश १.५
(ख) चित्रमीमांसा, पृष्ठ ५, (ग) अलंकारमहोदधि १.१७

३. चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम् । का० प्र० १म उ०

ही पर्याय है, जैसा कि उनके उदाहरणों से भी स्पष्ट है।[1] वस्तुतः रस के धर्मस्वरूप 'गुण' को 'नीरस' चित्रकाव्य का अंग समझना युक्तियुक्त है भी नहीं।[2]

आनन्दवर्द्धन के शब्दों में चित्र (अवर, अधम) काव्य रसभावादि-तात्पर्यरहित और व्यंग्यार्थ-विशेष के प्रकाशन की शक्ति से शून्य है। वह केवल शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित एक प्रतिकृति मात्र है।[3]

व्यंग्यरहितता चित्रकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। पर यहाँ एक शङ्का उपस्थित होती है। संसार की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो काव्य में वर्णित होने पर निमित्त-नैमित्तिक पद्धति के अनुसार अन्ततोगत्वा विभाव रूप से रस या भाव का अंग न बन जाती हो। अतः चित्रकाव्य को वस्तु-व्यंग्य और अलङ्कार-व्यंग्य से रहित तो कह सकते हैं, पर उसे रस-व्यंग्य से रहित कभी नहीं कह सकते।[4] अपनी ही इसी शङ्का का समाधान आनन्दवर्द्धन ने स्वयं कर दिया है—'यह सत्य है कि रसादि-प्रतीति-रहित कोई भी काव्य सम्पन्न नहीं हो सकता। पर यह सब कुछ कवि की विवक्षा पर आधृत है। जब कवि रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित होकर शब्दालंकार अथवा अर्थालङ्कार की रचना करता है, तब उस रचना में रस आदि के किसी न किसी रूप में होने पर भी रसादि-शून्यता की कल्पना की जाती है। ऐसी अवस्था में जो रसादि-प्रतीति होती भी है, वह परिदुर्बल होती है।[5] अतः चित्रकाव्य वह 'अलङ्कार-निबन्ध' है, जहाँ

---

१. **अत्र गुणपदं तद्व्यंजकपरम्। अन्यथा तस्य रसधर्मतया तन्निबन्धनचमत्कारित्वे चित्रत्वानुपपत्तेः।** का० प्र० पृष्ठ २२, टीका-भाग।

२. रस तथा ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों की स्थिति दो प्रकार की है—(१) ये क्रमशः द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति नामक चित्त-वृत्तियों से सयुक्त आह्लाद आदि के पर्याय हैं और इसीलिए रस के नित्य धर्म हैं। (२) ये तीनों क्रमशः अपनी-अपनी नियत वर्णावलि और रचना के भी अभिव्यंजक हैं। मम्मट और उनके अनुसार नरेन्द्रप्रभसूरि जब चित्रकाव्य को गुणयुक्त काव्य भी कहते हैं तो उनका तात्पर्य है गुणाभिव्यंजक वर्णों से युक्त रचना।

३. **रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्य-वाचक-वैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।**
—ध्वन्यालोक ३.४२ (वृत्ति)

४. **यत्र वस्त्वलंकारान्तरं वा व्यंग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। × × × [काव्य-] वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्वेन।** —वही ३.४२ वृत्ति

५. वही, ३.४२ वृत्ति

रस भावादि के किसी न किसी रूप में विद्यमान रहने पर भी कवि की विवक्षा इन पर नहीं रहती

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलंकारनिबन्धो य. स चित्रविषयो मतः ।। ध्वन्या० ३.४३ (वृत्ति)

इधर मम्मट ने भी इसी तथ्य का अनुमोदन करते हुए कहा है—'चित्रकाव्य' (अलंकार-निबन्ध) को नितान्त व्यंग्य-शून्य कभी नहीं कह सकते । इसमें प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ रहता अवश्य है, पर वह स्फुट नहीं होता ।[1] इसी कारण इसे अधम काव्य कहा गया है ।

इसी प्रसंग में आनन्दवर्द्धन ने एक विकल्प यह भी प्रस्तुत किया है कि 'चित्र-काव्य' को काव्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह प्रधानतः रस-भाव आदि से निरपेक्ष और स्फुट-प्रतीयमानार्थरहित होता है । पर उन्होंने जब देखा कि विशृंखल अर्थात् अभ्यासार्थी कवियों की प्रवृत्ति इसी ओर अधिक रहती है तो उन्होंने इसे भी काव्य का एक प्रकार मानने की अनुमति दे दी —

तच्चित्रं कवीनां विशृंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनाद-स्माभिः परिकल्पितम् । —ध्वन्या० ३.४३ (वृत्ति)

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है—

(१) चित्रकाव्य प्रधानतः अलंकार-निबन्ध को कहते हैं ।

(२) यद्यपि चित्रकाव्य में व्यंग्य अस्फुट (नगण्य रूप से) रहता है, तथा रस, भाव आदि किसी न किसी रूप में अवश्य रहते है, पर कवि की विवक्षा इनकी अपेक्षा रचना तथा शब्द और अर्थ के चमत्कार-द्योतन में ही अधिक रहती है । अत. **'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति'** के अनुसार चित्रकाव्य को व्यंग्य-रहित और नीरस माना गया है ।

(३) ध्वनि के तारतम्य के आधार पर चित्रकाव्य को भी काव्य का एक प्रकार (अधम, अवर) माना गया है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ, अस्फुट रूप से सही, रहता अवश्य है ।

अब इस सम्बन्ध में कतिपय उदाहरण लीजिए :

(१) × × ×

प्रतिपल-परिवर्तित व्यूह—भेद-कौशल-समूह,—
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित-वह्नि—राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,

× × × । राम की शक्तिपूजा (निराला)

---

१. **अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्** । —काव्यप्रकाश १.४

इसमें कवि की विवक्षा अनुप्रासालंकार-जन्य चमत्कार-द्योतन में ही अधिक है। अतः यह शब्दचित्र (शब्दालंकार) का उदाहरण है।

(२) विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥

—का० प्र० १ ५

[हयग्रीव के निकलने की खबर सुनकर इन्द्र ने [अमरावती नगरी] की अर्गला बन्द करा ली, मानो अमरावती [नगरी-रूपी नायिका] ने डर के मारे आंखें बन्द कर ली हों।]

इस अर्थ में उत्प्रेक्षालंकार से जन्य वाच्यार्थ ही प्रधान है, हयग्रीव की वीरता का द्योतक व्यंग्य अस्फुट (नगण्य) रह गया है।

(३) इदं किल व्याजमनोहरं वपु-
स्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥ —अभि० शा० १.१७

[इस रूपमती के सहज मनोहर कोमल वपु को,
है जो चाहता तप के योग्य बनाना।
धारा से वह नील कमल के मृदु पल्लव की,
चाहता मानो शमी वृक्ष की शाखा से कटवाना।] —हिन्दी रूपान्तर

कालिदास के उपर्युक्त पद्य में कवि की विवक्षा उत्प्रेक्षालंकार-जन्य चमत्कार-द्योतन में ही अधिक है। अतः यह अर्थचित्र (अर्थालंकार) का उदाहरण है।

इसी प्रकार प्रसाद, ओज और माधुर्य गुणों के व्यंजक वर्णों के चमत्कार के बल पर भी जहां काव्यत्व होगा, वे स्थल भी चित्रकाव्य के ही उदाहरण हैं। उक्त **'प्रतिपल-परिवर्तित……'** पद्य में ओजगुण के व्यंजक वर्णों के कारण भी काव्यत्व की स्वीकृति की जा सकती है। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में प्रसाद गुण ही काव्यत्व का कारण है—

(४) क्षमा करो इस भांति न तुम तज दो मुझे,
स्वर्ण नहीं हे राम ! चरण-रज दो मुझे।

—साकेत (मै० श० गुप्त)

× × ×

किन्तु इनके विपरीत एक उदाहरण और लीजिए :

अलकें खुली हुई रेशम की, नयनों में चित्रों की माया,
प्राणों में मधु-पलक छके, अधरों पर मधु-आसव की छाया।

सौरभ-त्रस्त वसन आकुल है केशर-अंग चमकते सुन्दर
नील यवनिका हटा गगन की चली आ रही लज्जा मंथर ॥

—वसन्तश्री (नगेन्द्र)

वसन्त-शोभा के उक्त वर्णन में रूपक, उत्प्रेक्षा तथा रूपकातिशयोक्ति अलंकार वर्ण्यविषय—शृंगार रस के अन्तर्गत उद्दीपनविभाव के—उपकारक हैं। कवि की विवक्षा वसन्तश्री का वर्णन करना है, न कि अलंकारों का चमत्कार दिखाना। अतः ऐसे स्थलों में चित्रकाव्य नहीं माना जाता।

इसी प्रकार—

अमी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार ॥

इस पद्य में भी कवि को नेत्रों के अद्भुत सौन्दर्य का वर्णन करना अभीष्ट है, न कि यथासंख्य अलंकार का चमत्कार दिखाना। हाँ, इस अलंकार का चमत्कार वर्ण्य-विषय की अभिवृद्धि अवश्य कर रहा है। अत: इस प्रकार के स्थल 'चित्रकाव्य' के अन्तर्गत नहीं आते।

ध्वनि तथा अन्य काव्यतत्त्व

ध्वनि-प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन से पूर्व 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया गया था, और इसके अतिरिक्त रस-तत्त्व भी प्रतिपादित हो चुका था। आगे चलकर वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी निरूपित हुआ। इन चारों काव्यतत्त्वों का ध्वनि के प्रति अथवा ध्वनि का इनके प्रति क्या दृष्टिकोण रहा—यहां इसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना अपेक्षित है।[1]

अलंकार और ध्वनि—अलंकारवादी आचार्यों को काव्य के सभी तत्त्वों का अन्तर्भाव अलंकार में करना अभीष्ट था। उन्होंने यद्यपि 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग तो किया, किन्तु प्रतिवस्तूपमा, पर्यायोक्त आदि अनेक अलंकारों के लक्षणों से प्रतीत होता कि वे ध्वनि-तत्त्व से परिचित थे और अपने दृष्टिकोण से उन्हें इसका अन्तर्भाव विभिन्न अलंकारों में करना अभीष्ट होगा, किन्तु आनन्दवर्द्धन ने अलंकार को 'शब्दार्थ का शोभाकारक धर्म' माना। उनके अनुसार ध्वनि महाविषयीभूत है। उसके तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेदों में से 'चित्रकाव्य' के अन्तर्गत अलंकार का चमत्कार समाविष्ट हो जाता है। अत: ध्वनि को अलंकार में अन्तर्भूत नहीं करना चाहिए।[2]

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए ये 'काव्य की आत्मा' प्रकरण।
२. इस धारणा की पुष्टि के लिए देखिए पृष्ठ ८९-९२।

रीति और ध्वनि—रीतिवादी वामन के ग्रन्थ में ध्वनि का साक्षात् अथवा प्रकारान्तर से संकेत नहीं मिलता। इधर आनन्दवर्द्धन ने वामन-सम्मत रीतिवाद का यद्यपि कहीं खण्डन तो नहीं किया, किन्तु उनके निम्नोक्त कथन से रीति के प्रति अव-हेलना अवश्य प्रकट होती है—'ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्यतत्त्व को समझ सकने में असमर्थ लोगों द्वारा काव्यशास्त्रीय जगत् में रीतियां चला दी गयीं।'[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने वामन-सम्मत 'रीति' की एक विशेषता समस्तपदता के आधार पर संघटना (सम्यक् घटना=रचना-शैली) का निरूपण किया तथा इसके तीन रूप निर्धारित किये—असमासा, अल्पसमासा और दीर्घसमासा। यही रूप आगे चलकर मम्मट और विश्वनाथ के ग्रंथों में रीति का स्वरूप निर्धारित करने में सहायक हुए।

रस और ध्वनि—आनन्दवर्द्धन ने यद्यपि रस को स्वतन्त्र काव्य-तत्त्व स्वीकार न करके ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि' माना और इसी में रस, भाव आदि आठों को अन्तर्भूत किया, फिर भी, रस की महत्ता को उन्होंने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया।[2] उनके दृष्टिकोण से रस, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, अपने पारिभाषिक अर्थ में, विभावादि की परिधि में सीमित है, अतः मुक्तक काव्य के अनेक स्थलों मे वह सुघटित नहीं होता। इसी कारण उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए रसादि को उसका एक भेद स्वीकार किया।

वक्रोक्ति और ध्वनि—वक्रोक्तिवाद के प्रवर्तक कुन्तक के सम्मुख आनन्दवर्द्धन का ग्रंथ था और वस्तुतः ध्वनि के समस्त भेदोपभेदों को 'वक्रोक्ति' में समाविष्ट करने के ही उद्देश्य से उन्होंने इसके पहले छह् प्रमुख भेद और फिर तीस उपभेद किये। एक स्थान पर उन्होंने वक्रोक्ति को 'विचित्रा अभिधा' भी कहा है, जो इस तथ्य का सूचक है कि वह वक्रोक्ति को ध्वनि के समकक्ष रखना चाहते थे—ध्वनि यदि अभिधा से भिन्न है तो कुन्तक की वक्रोक्ति 'विचित्रा अभिधा' है। किन्तु वक्रोक्ति वस्तुत: काव्य का एक अधिकांशतः बाह्यपरक तत्त्व है, और ध्वनि एक पूर्णतः आन्तरिक तत्त्व।

ध्वनि : काव्य की आत्मा—काव्यशास्त्र में 'आत्मा' शब्द से तात्पर्य है काव्य का वह आन्तरिक साधन जो उसमें अनिवार्यतः विद्यमान रहे। ध्वनि-तत्त्व पर यह सब घटित होता है। ध्वनि काव्य का आन्तरिक तत्त्व है। इसके बिना काव्य का अस्तित्व असम्भव है—वह काव्य में प्रमुख, गौण अथवा अस्फुट रूप से सदा विद्यमान रहती है—यहां तक कि शास्त्रीय दृष्टि से रस (रसध्वनि) का चमत्कार भी ध्वनि (व्यंग्यार्थ)

---

१. **अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।**
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥ ध्वन्यालोक ३.४७

२. देखिए 'काव्य की आत्मा' में रस-सिद्धान्त।

पर ही आश्रित है। इसके अतिरिक्त यह साधन है, स्वयं सिद्धि अथवा साध्य नहीं है। सिद्धि अथवा साध्य तो काव्याह्लाद, काव्यानन्द अथवा रस है। अतः ध्वनि काव्य की आत्मा है।[१]

× × ×

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने अलंकार, रीति और रस के स्थान पर ध्वनितत्त्व को अधिक महत्त्व दिया। ध्वनि से तात्पर्य है वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ। ध्वनि के तारतम्य के अनुसार काव्य के तीन प्रकार हैं—ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्यकाव्य और चित्रकाव्य -- इन तीनों में समग्र काव्य समाविष्ट हो जाता है—अतः ध्वनि आनन्दवर्द्धन के अनुसार काव्य का अनिवार्य तत्त्व है, इसीलिए इसे उन्होंने काव्य की आत्मा घोषित किया।[२] रस को उन्होंने ध्वनिकाव्य का एक भेद स्वीकृत किया, तथा अलंकार, गुण और रीति का स्वरूप पूर्ववर्ती आचार्यों के समान प्रस्तुत न कर नवीन रूप से प्रस्तुत किया, और इस प्रकार उन्होंने ध्वनि के माध्यम से काव्यशास्त्र को एक अभिनव दिशा की ओर उन्मुख कर दिया।

: तृतीय खण्ड :

ध्वनिविरोधी आचार्य (आनन्दवर्द्धन-समकालीन तथा परवर्ती) और व्यंजना की स्थापना

आनन्दवर्द्धन को ध्वनि (व्यंजनाशक्ति-जन्य व्यंग्यार्थ) नामक काव्यतत्त्व के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया जाता है। यद्यपि इन्होंने कई बार यह उल्लिखित किया है कि उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि और उसके भेदों का निरूपण किया है, पर अन्य आचार्यों के ग्रन्थों की उपलब्धि-पर्यन्त आनन्दवर्द्धन को ही ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय मिलता रहेगा। यह अनुमान कर लेना भी सहज-सम्भव है कि इन पूर्व आचार्यों के ध्वनि-विषयक मौलिक सिद्धान्तों की केवल पण्डित-गोष्ठियों में चर्चा मात्र रही होगी, और इन पर किसी प्रसिद्ध और स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण नहीं हुआ होगा।[3] हाँ, इतना तो निश्चित है कि यह सिद्धान्त आनन्दवर्द्धन के समय में इतना प्रचलित हो गया था कि इसके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे, जिन्हें करारा उत्तर देने के लिए आनन्दवर्द्धन को अपने ग्रन्थ में सर्वप्रथम लेखनी उठानी पड़ी। इन विरोधियों में से तीन वर्ग प्रमुख थे—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी।[४]

१, २. विशेष विवरण के लिए देखिए 'काव्य की आत्मा'।

३. विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनाद् इत्यभिप्रायः।

—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ११

४. ध्वन्यालोक, १.१

प्रथम वर्ग को ध्वनि की सत्ता ही स्वीकृत नहीं है तथा तृतीय वर्ग इस की सत्ता स्वीकार करता हुआ भी इसे अनिर्वचनीय कहता है, और द्वितीय वर्ग ध्वनि को भाक्त अर्थात् लक्षणागम्य अतएव गौण मानता है। सम्भव है इन सभी अथवा एक या दो वर्गों की कल्पना स्वयं आनन्दवर्द्धन ने कर ली हो, अथवा इस प्रसंग का दायित्व भी गोष्ठीगत मौखिक शास्त्रीय चर्चाओं पर ही हो। पर इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना नितान्त कठिन है; क्योंकि एक तो भरत अथवा भामह से लेकर आनन्दवर्द्धन के ही लगभग समकालीन रुद्रट तक उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनि-विरोधियों की चर्चा तक नहीं की गयी; और दूसरे, इन विरोधी आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का नामोल्लेख स्वयं आनन्दवर्द्धन ने भी नहीं किया।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् भी ध्वनि-सिद्धान्त के अन्य विरोधी उत्पन्न हो गये। ध्वनि को भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार में अन्तर्भूत किया, धनिक ने तात्पर्यार्थ वृत्ति में, कुन्तक ने वक्रोक्ति में और महिमभट्ट ने अनुमान में। इनमें से भट्टनायक का खण्डन अभिनवगुप्त ने किया, और धनिक तथा महिमभट्ट का मम्मट ने।[1] हाँ, कुन्तक का न विरोध किया गया और न समर्थन। विश्वनाथ का 'वक्रोक्ति' पर आक्षेप शिथिल भी है तथा असंगत भी। भट्टनायक के सिद्धान्त पर हम आगे रस-प्रकरण में विचार करेंगे। मम्मट ने तात्पर्यवाद और अनुमानवाद के अतिरिक्त अभिधावाद और लक्षणावाद का भी खण्डन किया है। इनमें से अभिधावाद भट्ट लोल्लट आदि काव्यशास्त्रियों तथा प्राभाकर मीमांसकों का मत है, और लक्षणावाद 'गुणवृत्ति' (लक्षणा शक्ति) को स्वीकार करने वाले उद्भट के साथ संयुक्त किया जाता है। ध्वनि अर्थात् व्यंजना की स्थापना[2] के लिए उक्त आचार्यों के इन वादों का खण्डन करना अपेक्षित है। यहा उनका सरल-सुबोध सार प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती अथवा उनके समकालीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत वाद

आनन्दवर्द्धन ने विभिन्न ध्वनि-विरोधी आचार्यों की प्रकल्पना करते हुए निम्नोक्त तीन वादों का खण्डन किया —

(१) अभाववाद, (२) लक्षणावाद और (३) अलक्षणीयतावाद। इनमें से लक्षणावाद पर आगे यथास्थान अभिधावाद के उपरान्त प्रकाश डाला जा रहा है, और शेष दो पर इसी प्रसंग में।

१. अभाववाद

अभाववादी आचार्य ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। उनका प्रमुख तर्क यह है कि अलंकार, रीति, गुण आदि काव्यतत्त्वों की स्वीकृति में

---

१. देखिए पृ० १०५

२ इस प्रकरण में ध्वनि की स्थापना से तात्पर्य है व्यंजना की स्थापना।

ध्वनि का मानना व्यर्थ है। उदाहरणार्थ, भामह, दण्डी, उद्भट—इन की ओर से कहा जा सकता है कि 'अलंकार' नामक तत्त्व की स्वीकृति किये जाने पर ध्वनि नामक तत्त्व की आवश्यकता ही नहीं है—तस्याऽभावं जगदुरपरे। (ध्वन्या० १.१)। कतिपय स्थल लीजिए—

—भामह ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार के लक्षण में 'गुणसाम्य-प्रतीति' अर्थात् गम्यमान औपम्य की चर्चा की है; विशेषण-साम्य के बल पर अन्य अर्थ की 'गम्यता' को इन्होंने समासोक्ति कहा है, तथा अन्य प्रकार के अभिधान (कथन-विशेष) को पर्यायोक्त।[1]

—इसी प्रकार दण्डि-सम्मत व्यतिरेक अलंकार का एक रूप तो वह है, जिसमे उपमान-उपमेयगत सादृश्य किसी शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है; पर दूसरा वह जिसमे सादृश्य 'प्रतीयमान' होता है। भामह के समान दण्डी ने भी पर्यायोक्त के स्वरूप को 'प्रकारान्तर-कथन' पर आधृत माना है।[2] इसी अलंकार का उद्भट-सम्मत निम्नोक्त लक्षण तो व्यंजना के स्वरूप का स्पष्ट निर्देशक है—

> **पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाऽभिधीयते।**
> **वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥**
>
> —का० सा० सं० ५.६

अर्थात् पर्यायोक्त उसे कहते हैं जहां अभीष्ट विषय का अन्य प्रकार से कथन किया जाए; और वह अन्य प्रकार है—वाच्य-वाचक वृत्ति अर्थात् अभिधावृत्ति से शून्य अर्थ का अवगमन।

—यह हुई अलंकारवादियों की ध्वनि-निर्देशक स्थलों की चर्चा। आनन्दवर्द्धन के परवर्ती आचार्य रुय्यक के कथनानुसार रुद्रट के भी रूपक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के लक्षणों में व्यंजना के बीज निहित है।[3] रुय्यक और उनके टीकाकार जयरथ के अनुसार रुद्रट-सम्मत भाव अलंकार का एक प्रकार 'प्रधान व्यंग्य' है और दूसरा प्रकार 'अप्रधान व्यंग्य'।[4]

---

१. (क) **समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।**
यथैवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ॥
—का० अ० (भा०) २.३४

(ख) **यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।**
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥ —वही २.७६

(ग) **पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ॥** —वही ३.८

२. का० आ० २.१८६; २.२९५

३. अलं० सर्व० पृष्ठ ७ ८

४ वही पृष्ठ ७-८ तथा टीका-भाग पृ० ६

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन से पूर्व 'ध्वनि' को अलंकारों मे अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया। परन्तु ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले आनन्दवर्द्धन ने इस मान्यता का विरोध किया। इस सम्बन्ध में उनकी निम्नोक्त धारणाए[1] उल्लेखनीय हैं—

(क) अलंकार और ध्वनि में महान् अन्तर है। अलकार शब्दार्थ पर आश्रित है पर ध्वनि-व्यंग्य-व्यंजक-भाव पर। शब्दार्थ के चारुत्वहेतुभूत अलकार तो ध्वनि के अगभूत हैं; और ध्वनि उनका अगी है।

(ख) समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपह्नुति, अनुक्तनिमित्तक विशेषोक्ति, पर्यायोक्त और सकर अलंकार के उदाहरणों में व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य का प्राधान्य दिखाते हुए आनन्दवर्द्धन ने यह सिद्ध किया है कि [व्यंग्य-प्रधान] ध्वनि का [वाच्य-प्रधान] अलंकारों में अन्तर्भाव मानना युक्ति-संगत नहीं है।

एक उदाहरण लीजिए—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥

यहां प्रकृत वर्णन सन्ध्या का है जो कि अनुरागवती अर्थात् लालिमा से युक्त है। दिन उसके सामने बढ़ रहा है। अहो ! दैव की गति कैसी विचित्र है कि फिर भी उनका समागम नहीं हो रहा।

और, इस वर्णन से एक अन्य अर्थ भी प्रतीत हो रहा है कि सन्ध्या नामक नायिका अनुराग (प्रेम) से युक्त है और दिवस नामक नायक उसके सामने आ रहा है। अहो! दैवगति कैसी विचित्र है कि फिर भी उनका समागम नहीं हो रहा। यहा आनन्दवर्द्धन के अनुसार यद्यपि व्यंग्य रूप में एक अन्य अर्थ की प्रतीति हो रही है, फिर भी, ऐसे स्थलों में व्यंजना [अभिधामूला व्यंजना तथा अलंकार-ध्वनि] न मानी जाकर समासोक्ति अलंकार ही मानना चाहिए, क्योंकि यहां व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य का ही चारुत्व अधिक है, और [कवि को] उसकी ही प्रधानता विवक्षित है।[2]

किन्तु इसके विपरीत—

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिः करैः॥[3]

---

१ ध्वन्यालोक १.१३ (वृत्ति) तथा २.२७

२. अत्र सत्यामपि व्यंग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवद् इति तस्यैव प्राधान्य-विवक्षा। —ध्वन्यालोक १.१३ (वृत्ति)

३. (क) वाच्यार्थ चन्द्रमा के पक्ष में—उदयाचल पर स्थित लाल-लाल रंग वाला सुन्दर चन्द्रमा कोमल किरणों से लोगों के हृदय को आकर्षित करता है।

—ऐसे पद्यों में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का ही चारुत्व अधिक है, अतः यहां व्यंजना अथवा ध्वनि [अभिधामूला व्यंजना अथवा अलंकार-ध्वनि] है।[1]

(ग) इसी प्रसंग में उनका एक अन्य अकाट्य तर्क भी अवेक्षणीय है—जिस प्रकार दीपक, अपह्नुति आदि अलकारों के उदाहरणों में उपमा अलंकार की व्यंग्यरूप से प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण वहां 'उपमा' नाम से व्यवहार नहीं होता, इसी प्रकार समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलकारों मे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण 'ध्वनि' नाम से व्यवहार नहीं होता; और यदि पर्यायोक्त आदि अलकारों के उदाहरणों मे कहीं व्यंग्य की प्रधानता हो भी तो उस अलंकार का अन्तर्भाव महाविषयीभूत (अंगीभूत) ध्वनि मे किया जाएगा, न कि ध्वनि का अन्तर्भाव अंगभूत अलकार में। ध्वनि तो काव्य की आत्मा है; अलंकार्य है, अतः वह न तो अलंकार का स्वरूप धारण कर सकती है और न अलंकार में उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है।[2]

निष्कर्ष यह कि आनन्दवर्द्धन के मतानुसार उक्त पर्यायोक्त, प्रतिवस्तूपमा आदि अलकारों में 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति होने पर भी उसका प्रधान रूप से कथन नहीं होता, उनमें प्रधान चमत्कार तो अलंकार-तत्त्व का ही रहता है। अतः इन्हें 'ध्वनि' न कह कर

(ख) व्यंग्यार्थ राजा के पक्ष में—उन्नतशील सुन्दर राजा, जिसने देश को अनुरक्त किया हुआ है, थोड़ा 'कर' ग्रहण करने के कारण प्रजा के हृदय को आकृष्ट करता है।

१. देखिए अभिधामूला व्यंजना तथा अलकार-ध्वनि प्रकरण, पृ० ५२ तथा ७१।

२. आनन्दवर्द्धन से परवर्ती सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने इनके साथ अपनी सहमति प्रकट की है। उदाहरणार्थ—

शब्दार्थसौन्दर्यतनोः काव्यस्याऽऽत्मा ध्वनिर्मतः।
तेनाऽलंकार्य एवायं नालंकारत्वमर्हति॥

—अलंकारमहोदधि ३.६४

परन्तु आनन्दवर्द्धन के उक्त खण्डन करने पर भी प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट-प्रणीत काव्यालंकारसारसंग्रह की स्वनिर्मित टीका में वस्तुगत, अलकारगत तथा रसगत-ध्वनि को विभिन्न अलंकारों में अन्तर्भूत किया है, (का० सा० सं०, लघुवृत्ति-टीका, पृ० ८५-८८) और विवक्षितवाच्यध्वनि के स्वसम्मत १६ भेदों का अन्तर्भाव पर्यायोक्त अलंकार में करने का निर्देश किया है, तथा अविवक्षितवाच्य-ध्वनि के ४ भेदों का अप्रस्तुतप्रशंसा में। (का० सा० सं०, लघुवृत्ति, पृ० ८५ तथा ९१) प्रतिहारेन्दुराज की इन धारणाओं का अधिक सम्भव कारण यह प्रतीत होता है कि वे मूल ग्रन्थ के कर्ता अलकारवादी उद्भट का पुष्ट समर्थन करना चाहते होंगे।

अलंकार कहना चाहिए।[1] हाँ, व्यंग्यांश-समन्वित इन पर्यायोक्त आदि अलंकारों का चमत्कार अन्य वाच्यालंकारों—उपमा, रूपक आदि की तुलना में कहीं अधिक बढ़ जाता है।[2] और, यदि कहीं इन अलंकारों के उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो भी, तो उन्हें इन अलंकारों के स्थान पर 'ध्वनि' का ही उदाहरण माना जाएगा।[3] वस्तुतः ध्वनि अंगी है और अलंकार, गुण और वृत्तियाँ उसके अंग हैं।[4]

संक्षेप में अलंकार के सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन का मन्तव्य है कि अलंकार उन्हें कहते हैं जो शब्द और अर्थ के आश्रित रह कर कटक, कुण्डल आदि के समान (शब्दार्थ-रूप शरीर के शोभाजनक) है,[5] और इनकी यह स्थिति बाह्यपरक है। अतः इनके अन्तराल में 'ध्वनि' को—जो मूलतः एक आन्तरिक तत्व है—समाविष्ट नहीं माना जा सकता।

२. लक्षणावाद

इस पर आगे यथास्थान प्रकाश डाला जा रहा है।

३ अलक्षणीयतावादी

ये आचार्य ध्वनि को अलक्षणीय अर्थात् अनिर्वचनीय मानते हैं,[6] अर्थात् ध्वनि एक आन्तरिक तत्त्व है, अतः यह वर्णन का विषय नहीं बन सकता। इस प्रकार इन

---

१. अलंकारान्तरस्याऽपि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नाऽसौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥
[यत्र वाच्यस्य व्यंग्यप्रतिपादनोन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः।]
—ध्वन्यालोक २.२७ तथा वृत्ति

२. (क) शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥ —वही २.२८
(ख) वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते॥ —वही ३.३७

३. यत्र तु व्यंग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यंग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः।
—वही पृ० १९३

४. काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरंगानि अलंकाराः गुणाः वृत्तयश्च।
विशेष विवरण के लिए देखिए—ध्वन्यालोक १.१३, २.२७ (वृत्तिभाग)

५ अंगाश्रितास्त्वलंकारा: मन्तव्याः कटकादिवत्।
[वाच्यवाचकलक्षणानि अंगानि]—ध्वन्यालोक २.६

६ केचिद् वाचा स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम् ध्वन्यालोक १.१

आचार्यों ने 'ध्वनि तत्त्व' को अस्वीकृत नहीं किया । वस्तुतः उनकी इस धारणा से ध्वनि की प्रतिष्ठा में वृद्धि ही हुई है । आनन्दवर्द्धन का इस सम्बन्ध में कहना है कि जब इस ग्रंथ के पूर्वापर-प्रसंगों के आधार पर इस तत्त्व का विवेचन कर दिया गया है तो अब भी इसे अनाख्येय कहना युक्ति-संगत नहीं है ।[1] इस प्रकार आनन्दवर्द्धन का अन्ततः मन्तव्य है कि ध्वनि का चारुत्व किसी अन्य काव्यतत्त्व से प्रकाशित नहीं हो सकता—

उक्त्यन्तरेणाऽशक्यं यत् तच्चारुत्व प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत् ॥

—ध्वन्यालोक १.१५

(ख) आनन्दवर्द्धन से परवर्ती आचार्य

१ अभिधावाद

भट्ट लोल्लट प्रभृति अभिधावादी अपने मत की पुष्टि के लिए जिन तर्कों अथवा सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं उनका निर्देश और खण्डन करने से पूर्व ध्वनि-वादियों के मत में अभिधाजन्य वाच्यार्थ और व्यजना-जन्य व्यंग्यार्थ में अन्तर जान लेना आवश्यक है, जो कि आठ तत्त्वों पर आधारित है। (इस सम्बन्ध मे देखिए ६३) । अभिधावादी अपने मत की पुष्टि में मीमांसा-सम्मत कतिपय सिद्धान्त उपस्थित करते हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. अभिधावादियों के मत में "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् वक्ता को एक शब्द का जितना भी अर्थ अभीष्ट होता है, वह शब्द उतने ही अर्थ का वाचक होता है । दूसरे शब्दों में, वह सम्पूर्ण अर्थ अभिधागम्य होने के कारण वाच्यार्थ ही कहाता है, व्यंग्यार्थ नहीं । उदाहरणार्थ, 'गंगा पर घोष है, इस कथन से वक्ता को यदि कुटीर की पवित्रता और शीतलता बताना अभीष्ट हो तो यह अर्थ भी अभिधागम्य ही है । इसके लिए व्यंजना शक्ति की स्वीकृति व्यर्थ है ।

पर ध्वनिवादियों के अनुसार उक्त सिद्धान्त-कथन का यह अभिप्राय नहीं है जो अभिधावादियों ने अपने मत की पुष्टि में प्रस्तुत किया है । वस्तुतः इसका अभिप्राय यह है कि किसी वाक्य मे जितना अर्थ अप्राप्त होता है 'अदग्धदहन-न्याय' के अनुसार केवल उतने का ही विधान (ग्रहण) कर लिया जाता है; और यह ग्रहण भी वाक्य में उपात्त अर्थात् प्रयुक्त शब्दों के ही अर्थ का होता है, अनुपात्त अर्थात् अप्रयुक्त शब्दों के अर्थ का नहीं ।[2] पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए ऐसा क

१. देखिए ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत : अन्तिम भाग से पूर्व अनुच्छेद ।

२ × × × इत्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे ।

का० प्र० ५ म उ० पृ० २२७-२२८

नियत विधान नहीं हो सकता कि वह केवल उपात्त शब्दों से ही सम्बद्ध हो, वह अनुपात्त शब्दों से भी प्रतीत हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'गंगा में घोष है' इस कथन में कोई भी शब्द शीतलता अथवा पवित्रता का वाचक नहीं है।

उक्त मान्यता का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अग्नि, काष्ठ आदि पदार्थों के केवल उसी भाग को जलाती है जो कि बिना जला होता है, उसी प्रकार अभिधा शक्ति द्वारा केवल उतने ही अर्थ का विधान अथवा ग्रहण होता है जितना कि अप्राप्त है, और वह भी वाक्य में उपात्त (पठित अथवा श्रुत) शब्दों का, न कि अनुपात्त शब्दों का। उदाहरणार्थ, 'प्रथमो धावति', अर्थात् पहला [बालक अथवा घोड़ा] दौड़ता है, इस वाक्य में 'प्रथम' इस उपात्त शब्द का अभिधा शक्ति द्वारा केवल इतना ही अर्थ गृहीत हो सकता है कि 'पहले से इतर दूसरा, तीसरा आदि' नहीं दौड़ता है। यह भी वाच्यार्थ है, यदि चाहें तो इसे 'अतिरिक्त वाच्यार्थ' कह सकते हैं, किन्तु व्यंग्यार्थ इस तथाकथित अतिरिक्त वाच्यार्थ से भी भिन्न होता है। वस्तुतः किसी भी वाक्य में व्यंग्यार्थ का द्योतक कोई भी शब्द उपात्त नहीं होता। जैसे 'पुत्रस्ते जात.' (तेरा पुत्र उत्पन्न हुआ है), इस वाक्य का हर्षद्योतक व्यंग्यार्थ व्यंजना का विषय है, न कि अभिधा का, क्योंकि उक्त वाक्य में कोई ऐसा उपात्त शब्द नहीं है, जो इस व्यंग्यार्थ का द्योतक बन सके।[1] एक स्पष्ट उदाहरण और लीजिए—'**वेदकक्षायां शूद्रश्छात्रः श्रेष्ठः।**' (वेद की कक्षा में शूद्र छात्र सर्वाधिक प्रवीण है।) इस वाक्य में 'शूद्र' इस उपात्त शब्द का 'अतिरिक्त वाच्यार्थ' होगा शूद्रेतर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, और व्यंग्यार्थ होगा कि शूद्र भी वेदानुशीलन जैसे गम्भीर विषय में निपुण हो सकते हैं, अध्ययन के लिए मेधा अपेक्षित है न कि किसी विशिष्ट वर्ग में जन्म-ग्रहण। अस्तु! इस प्रकार व्यंजना शक्ति का अभिधा शक्ति में अन्तर्भाव नहीं किया जाना चाहिए।[1]

२. अभिधावादियों के मत में अभिधा शक्ति का व्यापार उस प्रकार दीर्घ-दीर्घतर है, जिस प्रकार किसी बलवान् पुरुष द्वारा छोड़े हुए बाण का। जिस प्रकार वह बाण कवचभेदन, उरोविदारण और प्राणहरण तीनों का कारण बनता है, उसी प्रकार अभिधा शक्ति का दीर्घ-दीर्घतर व्यापार भी वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों का बोध करने में समर्थ है।[2] परन्तु व्यञ्जना-स्थापकों के मत में अभिधावादियों का यह कथन भी असंगत है। इसके निम्नोक्त कई कारण हैं—

---

१. 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस कथन के समकक्ष दो अन्य कथन भी उद्धरणीय हैं जो कि उक्त धारणा को ही प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हैं—१. **भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते** । (का० प्र० ५.४७ वृत्ति)। २. **तद् यत्रैमे भावप्रधाने भवतः** । (निरुक्त १.१.९,१०; देखिए पृष्ठ ४१)। किन्तु विस्तारभय से इन कथनों पर यहां प्रकाश नहीं डाला जा रहा।

२. (क) **इषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः।**

का० प्र० ५ म उ० पृ २२५

(क) अभिधा-जन्य वाच्यार्थ का सम्बन्ध वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के साथ होता है, न कि इनसे प्रतीयमान अर्थ के साथ भी। उदाहरणार्थ, 'मित्र ! तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हुआ' इस वाक्य से प्रतीयमान हर्ष-भाव किसी भी शब्द अथवा शब्द-समूह का वाच्यार्थ नहीं है।

(ख) यदि अभिधा शक्ति ही तीनों अर्थों की द्योतिका है तो फिर लक्ष्यार्थ के लिए मीमांसकों ने लक्षणा शक्ति की स्वीकृति क्यों की है ? यदि लक्ष्यार्थ के लिए लक्षणा शक्ति स्वीकृत हो सकती है तो व्यंग्यार्थ के लिए व्यंजना शक्ति भी स्वीकृत करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(ग) यदि व्यंग्यव्यंजकभाव न स्वीकार किया जाकर केवल वाच्यवाचकभाव स्वीकार किया जाए तो वाक्य में शब्द के क्रम-परिवर्तन अथवा पर्याय-परिवर्तन को सदा ही सह्य समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, 'कुरु रुचिम्' को 'रुचिंकुरु' में परिवर्तित करने से 'चिकु' पदांश में अश्लील दोष की स्वीकृति नहीं होनी चाहिए, तथा 'शिव शंकर ! हमारा कल्याण कीजिए' इस वाक्य में 'शिव शंकर' के स्थान पर 'रुद्र' शब्द का प्रयोग सदोष नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार दुःश्रवता को शृङ्गार' आदि रसों में तो दोष स्वीकृत किया जाता है, परन्तु वीर, रौद्र आदि रसों में नहीं; और इधर च्युतसंस्कृति' को सभी रसों में दोष माना जाता है—दोषों की यह नित्यानित्य-व्यवस्था भी अभिधा-जन्य वाच्यार्थ पर अवस्थित नहीं हो सकती, इसका आधार व्यंजना-जन्य व्यंग्यार्थ ही है।

(घ) अभिधा को दीर्घ-दीर्घतर व्यापार स्वीकृत कर लेने की स्थिति में मीमांसा का यह सिद्धान्त कि 'श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या—इन छह प्रमाणों के समवाय में पूर्व-पूर्व प्रमाण उत्तरोत्तर प्रमाण की अपेक्षा सबल होता है' व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि इन सब सबल-दुर्बल प्रमाणों का कार्य दीर्घ-दीर्घतर अभिधा से ही सिद्ध हो जाने के कारण इनकी आवश्यकता शेष नहीं रहती।

३. मीमांसक अपने मत की सिद्धि के लिए एक अन्य सिद्धान्त उपस्थित करते हैं—'निमित्तानुसारेण नैमित्तिकानि कल्प्यन्ते'[1]; अर्थात् जिस प्रकार का निमित्त (कारण) होगा, नैमित्तिक (कार्य) भी उसी के अनुकूल होगा। व्यंग्यार्थ रूप नैमित्तिक का निमित्त 'शब्द' के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। अतः शब्द बोधक अथवा

(ख) यथा बलवता प्रेरित एक एवेषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण रिपोर्वर्मच्छेदं मर्मभेदं प्राणहरणं च विधत्ते तथा सुकविप्रयुक्त एक एव शब्द एकेनैवाऽभिधाव्यापारेण पदार्थोपस्थितिमन्वयबोधं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विधत्ते जनयति।

—का० प्र०, बालबोधिनी टीका, पृष्ठ २२५

१. तुलनार्थ—सति हि निमित्ते नैमित्तिकं भवितुमर्हति, नाऽसति।

—शबरभाष्य (आ० आ०)

वाचक है, और व्यंग्यार्थ बोध्य अथवा वाच्य हैं। यह वाचक-वाच्य सम्बन्ध जब अभिधा द्वारा स्थापित हो सकता है, तो व्यंजना की स्वीकृति अनावश्यक है।[1]

पर व्यंजनावादी व्यंग्यार्थ का निमित्त 'शब्द' को नहीं मानते। क्योंकि शब्द व्यंग्यार्थ का न तो 'कारक निमित्त' बन सकता है और न 'ज्ञापक निमित्त'। शब्द व्यंग्यार्थ का प्रकाशक है, अतः 'कुम्भकार-घट' इस कारण-कार्य-सम्बन्ध में कुम्भकार के समान शब्द व्यंग्यार्थ का 'कारक निमित्त' नहीं है। शब्द व्यंग्यार्थ का 'ज्ञापक निमित्त' भी नहीं है, क्योंकि 'दीप-घट' इस ज्ञापक-ज्ञाप्य सम्बन्ध में घट के समान व्यंग्यार्थ का अस्तित्व पूर्व विद्यमान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञान परस्पर अन्वित पदों के संकेत से ही होता है; पर व्यंग्यार्थ कभी संकेतित नहीं होता। इस प्रकार शब्द 'निमित्त' के किसी भी उक्त रूप पर घटित नहीं होता, इसलिए व्यंग्यार्थ को उसका नैमित्तिक मानना समुचित नहीं है। अतएव अभिधा द्वारा व्यंग्यार्थ की गम्यता भी सिद्ध नहीं हो सकती।

४. अन्विताभिधानवादी अभिधा के समर्थन में कह सकते हैं कि अभिहितान्वय-वादियों के विपरीत इनके मत में अभिधा शक्ति केवल पदार्थ का सामान्य ज्ञान मात्र करा के विरत नहीं हो जाती, अपितु वाक्य के अन्वितार्थ का विशेष (अथवा सामान्या-वच्छादित विशेष) ज्ञान करा देती है; अतः विशेष ज्ञान के अन्तर्गत व्यंग्यार्थ के भी सम्मिलित हो जाने के कारण व्यंजना शक्ति की स्वीकृति नहीं करनी चाहिए।[2] पर व्यंजनावादियों के मत में एक तो व्यंग्यार्थ वाक्य का अन्वितार्थ नहीं होता; और दूसरे, वह विशेष से भी बढ़कर 'अति विशेष' होता है; और कहीं वाच्यार्थ से विपरीत भी होता है। अतः अभिधा द्वारा इसकी सिद्धि सम्भव नहीं है।[3]

शेष रहे अभिहितान्वयवादी। इनके मत में अभिधा शक्ति जब परस्पर-सम्बद्ध

---

१. ननु व्यंग्यप्रतीतिर्नैमित्तिकी। निमित्तान्तरानुपलब्धेः शब्द एव निमित्तम्। तच्च बोध्यबोधकत्वरूपं निमित्तत्वं वृत्तिं विना न सम्भवतीति अभिधैव वृत्तिरिति मीमांसकैकदेशिमतमाशङ्कते।

—का० प्र०, बा० बो० टीका, पृ० २२४

२. × × × × तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः।

— का० प्र० ५ म उ०, पृ० २२३

३. तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्था-न्तर्गतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य 'निश्शेषच्युते'त्यादौ विध्यादेश्चर्चा। —वही, पृ० २२३-२२४

वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकती; इसके लिए इन्हें तात्पर्य शक्ति माननी पड़ती है, फिर यह व्यंग्य जैसे दूरवर्ती अर्थ का बोध कराने में कैसे समर्थ होगी ?[1]

२ तात्पर्यवाद

अभिहितान्वयवादी मीमांसक तात्पर्य वृत्ति[2] में व्यंजना शक्ति का अन्तर्भाव मानते हैं। काव्यशास्त्रियों में धनंजय और धनिक तात्पर्यवादी आचार्य माने जाते है।[3] धनजय के कथनानुसार जिस प्रकार 'द्वार द्वार' कहने से वक्ता की अश्रूयमाण भी क्रिया 'खोलो' अथवा बन्द करो' का ज्ञान प्रकरणादिवश वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ वृत्ति द्वारा हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि-युक्त काव्य में स्थापित भाव का ज्ञान भी काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) से ही हो जाता है।[4] इसके लिए अलग वृत्ति मानने की आवश्कता नहीं है

धनिक ने धनंजय के उक्त अभिप्राय को थोड़ा तीव्र रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'जिस प्रकार कोई भी लौकिक वाक्य वक्ता की अभिप्रेत विवक्षा (तात्पर्य) पर आश्रित रहता है, उसी प्रकार काव्य भी [कवि के] तात्पर्य पर आश्रित रहता है। वस्तुत: तात्पर्य कोई तुला-धृत पदार्थ तो है नहीं कि जिसके विषय में यह कहा जा सके कि इसकी विश्रान्ति अर्थात् सीमा यहाँ तक नियत है, इसके आगे नहीं।'[5]

ध्वनिवादी तात्पर्यवादियों से इसी बात पर सहमत नहीं है। इनके अनुसार तात्पर्य नामक वृत्ति पदों के अन्वितार्थ का बोध करा चुकने के बाद जब विश्रान्त हो जाती है तो व्यंग्यार्थ-द्योतन के लिए व्यंजना शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, पर तात्पर्यवादी इस विश्रान्ति' को स्वीकार नहीं करते—

ध्वनिश्चेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात्॥ द० रू० ४.३७ (वृत्ति)

---

१. ××× विशेषे सकेत: कर्तुं न युज्यत इति स.मान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासंनिधियोग्यतावशाद् परस्परससर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राऽभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्यस्याभिधेयतायाम्। —वही, पृ० २१६

२ तात्पर्य वृत्ति का स्वरूप देखिए पृ० ५६ ५७

३. धनञ्जय और धनिक दोनों ही भाट्ट मीमांसकों से अधिक प्रभावित जान पड़ते है।

४ वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थ: कारकैर्युक्ता स्थायिभावस्तथेतर:॥ द० रू० ४.३७

५ (क) पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमत: काव्यस्य युज्यते॥ द० रू० ४.३७ (वृत्ति)
(ख) एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥ द० रू० ४.३७

निष्कर्ष यह है कि तात्पर्यवादी वाक्यार्थ मात्र से आगे प्रतीयमान अर्थ के लिए भी तात्पर्य शक्ति की स्वीकृति करते हैं पर ध्वनिवादी व्यंजना शक्ति की। यहीं एक स्वाभाविक शंका उपस्थित होती है—क्या वाक्यार्थ और प्रतीयमानार्थ दोनों एक हैं। स्वयं तात्पर्यवादी इन्हें भिन्न-भिन्न तथा पौर्वापर्य रूप से स्थित मानते हैं। अतः मीमांसकों के ही सिद्धान्त **"शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः"** के अनुसार तात्पर्य शक्ति वाक्यार्थ मात्र का बोध करा चुकने के बाद विरत हो जाती है। अब प्रतीयमान अर्थ के बोध के लिए किसी अन्य शक्ति की स्वीकृति अनिवार्य है; तात्पर्यवादी भले ही इसे भी 'तात्पर्य शक्ति' नाम दें, पर इसकी कार्य-सीमा वहीं से आरम्भ होगी, जहां प्रथम तात्पर्य शक्ति की विश्रान्ति होगी। अब केवल नाम में ही अन्तर रह जाता है—उसे तात्पर्य शक्ति कहें, अथवा व्यंजना शक्ति, पर है वह प्रथम तात्पर्य से भिन्न ही। अतः इसे व्यंजना शक्ति कहना ही समुचित है।

३. लक्षणावाद

भट्ट उद्भट प्रभृति आचार्य लक्षणावादी माने जाते हैं। इनके मत में व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में किया जाना चाहिए, अतः लक्षणा शक्ति से परे व्यंजना शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

ये ध्वनि (व्यंजना) को भाक्त अर्थात् लक्षणा-गम्य मानते हैं—**भाक्तमाहु-स्तदन्ये**[1]। किन्तु आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को लक्षणा-गम्य न मानते हुए इसे एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यतानुसार मम्मट ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, उनका सार इस प्रकार है[2]—

१. लक्षणा शक्ति तीन हेतुओं पर आधारित है—मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति तथा रूढ़ि और प्रयोजन। उदाहरणार्थ—'गंगा' शब्द का तट-रूप लक्ष्यार्थ। किन्तु व्यंजना-जन्य अर्थ (अर्थात् व्यंग्यार्थ) पर उपर्युक्त कोई भी हेतु घटित नहीं होता। उदाहरणार्थ **'गंगायां घोषः'**[3] इस वाक्य में गंगा शब्द का वाच्यार्थ है जल-प्रवाह, इसका लक्ष्यार्थ है गंगा-तट, और इस लक्ष्यार्थ की सिद्धि का प्रयोजन है घोष की शीतलता एवं पवित्रता, जो कि व्यंग्यार्थ है। इसका तात्पर्य यह है कि स्वयं लक्षणा शक्ति ही व्यंजना शक्ति पर आधारित है। इस व्यंग्यार्थ को लक्ष्यार्थ नहीं मान सकते, क्योंकि इस पर उक्त तीनों हेतु घटित नहीं होते[4]—

---

१. ध्वन्यालोक १.१०

२. ध्वन्यालोक १.१४-१८ तथा काव्यप्रकाश २.१४, २२-२१ तथा ५.४७-६९

३. गंगा पर ग्वालों की बस्ती : **घोषः आभीरपल्ली इत्यमरः।**

४. **हेतुत्वाभावान्न लक्षणा।** काव्यप्रकाश २.५

(क) यदि शीतलता-पवित्रता रूप प्रयोजन को व्यंग्यार्थ न मान कर लक्ष्यार्थ माना जाए तो इससे पूर्व बोधित तट-रूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना चाहिए। किन्तु एक तो 'गंगा' शब्द का तट-रूप अर्थ मुख्यार्थ नहीं है, इसका मुख्यार्थ है जल-प्रवाह; और दूसरे, यदि तट-रूप अर्थ को, बदितोषन्याय से, मुख्यार्थ मान भी ले, तो इसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि घोष का तट पर होना नितान्त सम्भव है।[1]

(ख) यदि शीतलता-पवित्रता-रूप प्रयोजन को व्यंग्यार्थ न मानकर लक्ष्यार्थ माना जाए तो फिर तट रूप अर्थ को लक्ष्यार्थ न मानकर मुख्यार्थ मानना होगा, किन्तु इस स्थिति में तट रूप 'मुख्यार्थ' का शीतलता-पवित्रता रूप 'लक्ष्यार्थ' के साथ साक्षात्-सम्बन्ध होना चाहिए, पर शीतलता-पवित्रता का सम्बन्ध तो 'गंगा' शब्द के वास्तविक मुख्यार्थ 'जल-प्रवाह' के साथ है, न कि तट-रूप कल्पित मुख्यार्थ के साथ।[2]

× × ×

यहा यह उल्लेख्य है कि उपाधि-भेद से जो शब्द लक्षक (लाक्षणिक) है वह 'स्खलद्गति' होता है, अर्थात् उससे लक्ष्यार्थ का ग्रहण तब तक नही होता, जब तक मुख्यार्थ-बाध आदि—लक्षणा के उपर्युक्त तीन प्रयोजक हेतु—उस पर घटित नही होते। दूसरे शब्दों में, मुख्यार्थ-बाध आदि तीन प्रयोजक हेतुओ के बिना ['लक्षक'] शब्द लक्ष्यार्थ के बोध में स्खलद्गति होता है। जैसे—गगा ['लक्षक'] शब्द से तटरूप लक्ष्यार्थ का ज्ञान तभी सम्भव है जब इस पर मुख्यार्थ-बाध आदि तीनों हेतु घटित होते हैं।

अब विवेच्य विषय पर आए। उक्त वाक्य में 'गंगा' इस लाक्षणिक शब्द से जब शीतलता-पवित्रता आदि प्रयोजन-द्योतक अर्थ लेते हैं तो इस स्थिति में मुख्यार्थ-बाध आदि उक्त तीन हेतु घटित नहीं होते, जैसे कि इमसे तट-रूप लक्ष्यार्थ ग्रहण करने में घटित होते हैं। अर्थात् शीतलता-पवित्रता अर्थ के द्योतन मे 'गंगा' शब्द स्खलद्गति नही है,[3] क्योंकि शीतलता-पवित्रता आदि धर्म तो मुख्यार्थ-बाध आदि के बिना भी—अविनाभूत[4] होने से—गगा शब्द के अर्थ के साथ स्वय ही उपस्थित हो जाते है। वस्तुतः लक्षणा शक्ति का क्षेत्र भी इसी रूप में सीमित है कि जब मुख्यार्थ का अन्य प्रमाणो से

---

१. लक्ष्यं न मुख्यम्, नाप्यत्र बाध.। काव्यप्रकाश २.१६

२ योगः फलेन नो। का० प्र० २ १६

३ न च शब्दः स्खलद्गतिः। का० प्र० २.१६

४. 'अविनाभूत' से तात्पर्य है वियोग का अभाव, जो जिसके विना सम्भव न हो अनिवार्य तत्त्व।

बाध हो जाता है तभी लक्षणा शक्ति प्रवृत्त होती है और इसके द्वारा उस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है जो अभिधेय (मुख्यार्थ) के साथ अविनाभूत रूप में सम्बद्ध रहता है।[1]

निष्कर्ष यह कि गंगा शब्द का शीतलता-प्रयोजनता रूप अर्थ न तो अभिधा शक्ति का विषय है, क्योंकि इस अर्थ में 'गंगा' शब्द संकेत-ग्रह नहीं करता, और न लक्षणा शक्ति का विषय है, क्योंकि यहां उक्त तीनों हेतु घटित नहीं होते।[2]

(ग) यदि शीतलता-पवित्रता रूप प्रयोजन को व्यंग्यार्थ न मानकर लक्ष्यार्थ माना जाए तो फिर इसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रयोजन को मानना होगा। प्रथम तो यहां कोई अन्य प्रयोजन है नहीं और यदि कोई ढूंढ भी लें तो उसे भी लक्ष्यार्थ मानने पर उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रयोजन की खोज करनी होगी।[3]

(घ) लक्षणा शक्ति द्वारा ही प्रयोजन-विशिष्ट लक्ष्यार्थ की स्वीकृति कर लेनी चाहिए, अतः व्यंजना शक्ति की सत्ता पृथक् नहीं माननी चाहिए। उदाहरणार्थ, 'गंगायां घोषः' में 'गंगा' शब्द का लक्ष्यार्थ होना चाहिए—शीतलता-पावनतादि प्रयोजन-विशिष्ट तट। किन्तु यह मान्यता भी असंगत है, क्योंकि विषय और फल में पूर्वापर-सम्बन्ध है, अर्थात् ज्ञान का विषय ज्ञान का कारण होता है, और ज्ञान का फल ज्ञान का कार्य होता है।[4] लक्षणा-जन्य ज्ञान का विषय तट है, और उसका फल शीतलता-पवित्रता आदि है, जो कि व्यंजना-गम्य है। इसलिए दोनों को एक न मानकर अलग-अलग मानना चाहिए। अतः व्यंजना को लक्षणा में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता।

२. व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में इसलिए भी नहीं हो सकता कि लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ के साथ सम्बद्ध रहता है, किन्तु व्यंग्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ कभी नियत सम्बन्ध रहता है, कभी अनियत सम्बन्ध और कभी सम्बद्ध-सम्बन्ध, अर्थात् पारम्परित सम्बन्ध।

---

१. **मानान्तरविरुद्धे हि मुख्यार्थस्य परिग्रहे।**
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते॥ —श्लोकवार्तिक (कुमारिल भट्ट)

२ 'हेतुत्वाभावान्न लक्षणा' की ही वस्तुतः व्याख्या है— **न च शब्दः स्खलद्गतिः।**

३ (क) **न प्रयोजनमेतस्मिन्।** का० प्र० २.१६
(ख) **एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।** का० प्र० २.१७

४ (क) **प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।**
(ख) **ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।**
(ग) **विशिष्टे लक्षणा नैवम्।**
[ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल क्रमशः कारण और कार्य हैं, यहां तक तो नैयायिक और मीमांसक एकमत हैं, किन्तु ज्ञान का फल क्या होता है, इसमें दोनों में मत-भेद है। यह प्रसंग यहां विषयान्तर है।]

– नियत सम्बन्ध से तात्पर्य है प्रसिद्ध सम्बन्ध, अथवा वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की समान-विषयता ।[1] जैसे—**तदा जायन्ते**······(पृष्ठ ६९) पद्य में 'कमल' शब्द के वाच्यार्थ 'पुष्प विशेष' और व्यंग्यार्थ 'सुन्दर कमल' में नियत-सम्बन्ध है ।

—अनियत सम्बन्ध से तात्पर्य है अप्रसिद्ध सम्बन्ध, अथवा वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की भिन्नविषयता । जैसे—**'कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।'** (पृष्ठ ६८) में 'राम.' शब्द का वाच्यार्थ 'दाशरथि' तो नियत है, किन्तु उसके व्यंग्यार्थ सकलदुःख-सहिष्णु, प्रजापालक आदि नियत नहीं है ।[2]

—सम्बद्ध-सम्बन्ध (परम्परित सम्बन्ध) से तात्पर्य है जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में परम्परा-सम्बन्ध हो । **'नीलोत्पल के बीच**... . '(पृष्ठ ७०) यहां वाच्यार्थ नील कमल को जब 'श्यामल नेत्र' रूप व्यंग्यार्थ में गृहीत किया जाएगा तभी परम्परा-सम्बन्ध से आंसू को मोती, हृदय को सुधानिधि से उपमित किया जा सकेगा ।[3]

३, ४. व्यंग्यार्थ की प्रतीति कहीं लक्ष्यार्थ के बाद होती है, जैसे **'गंगायां घोषः'** मे, और कहीं लक्ष्यार्थ के बिना वाच्यार्थ के बाद भी होती है, जैसे वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि के उदाहरणों में, और जहां वाच्यार्थ के बाद होती है, वहा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से नितान्त भिन्न होता है ।

५. लक्षणा शक्ति शब्द के अधीन है, पर व्यंजना शक्ति न केवल शब्द के, अपितु निरर्थक वर्णों तथा (दृश्य काव्य में] अक्षिनिःकोच आदि चेष्टाओं के भी अधीन रहती है ।

इस प्रकार उक्त सभी कारणों से व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं माना जा सकता । उक्त कारणों में से सर्वप्रमुख कारण यह है कि लक्षणा तो मुख्यार्थ-बाध आदि तीन प्रयोजक हेतुओं की अपेक्षा रखती है, किन्तु व्यंजना इस बन्धन से सर्वथा विमुक्त है ।

---

१. मम्मट-प्रस्तुत उदाहरण है—**श्वश्रूरत्र निमज्जति**··· (का० प्र० २.१३६) । इसमें वाच्यार्थ (निमन्त्रण के अभाव) और व्यंग्यार्थ (निमन्त्रण के सद्भाव) मे विरोध 'नियत सम्बन्ध' का द्योतक है ।

२. मम्मट-प्रस्तुत उदाहरण है—**कस्य वा न भवति रोष.**···(का० प्र० ५.१३५) । इसमें वाच्यार्थ का विषय नायिका 'एक' अर्थात् नियत है, किन्तु व्यंग्यार्थ के विषय पति, सपत्नी, श्वश्रू, पड़ोसन आदि 'अनेक' अर्थात् अनियत हैं । हमारे विचार में **'रामोऽस्मि सर्वं सहे'** में 'रामः' शब्द में भी अनियत-व्यंग्यार्थ है ।

३. मम्मट-प्रस्तुत उदाहरण है –**'विपरीतरते···'** (का० प्र० ५.१३७) । इसमे 'विष्णु के दाहिने नेत्र' रूप वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ 'सूर्य' ग्रहण करने पर ही परम्परा-सम्बन्ध से सम्पूर्ण व्यंग्यार्थ द्योतित होता है ।

४ अनुमानवाद

महिमभट्ट ने सम्पूर्ण व्यंजना-व्यापार (ध्वनि) को अनुमान में अन्तर्भूत करने के लिए 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रंथ का निर्माण किया है।[1] उनके मत का सार यह है कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से ही सम्बद्ध रहता है। यदि वह वाच्यार्थ से सम्बद्ध न हो तो किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। दूसरे शब्दों में, तथाकथित 'व्यंग्यव्यंजक भाव' के लिए व्याप्ति-सम्बन्ध की स्वीकृति अनिवार्य है। अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए जो (व्यंजना नामक) तत्त्व ध्वनिवादियों को अभीष्ट है, वही अनुमानवादियों को गमकत्व (अनुमान) नाम से अभीष्ट है।[2] अतः व्यञ्जना व्यापार अनुमान प्रमाण का विषय है।

अनुमान की प्रक्रिया में व्याप्ति और पक्षधर्मता—ये दो मुख्य अंग हैं। व्याप्ति कहते हैं हेतु तथा साध्य के नित्य साहचर्य को। उदाहरणार्थ, जहां-जहां धुंआ है, वहां-वहां अग्नि है—यह व्याप्ति है। इस वाक्य में धूम हेतु है और अग्नि साध्य। पक्षधर्म कहते हैं उस आश्रय को जिसमें साध्य सन्दिग्ध रूप से रहता है। उदाहरणार्थ 'वह पर्वत वह्निमान् है' इस कथन में पर्वत पक्षधर्म है। अनुमान का आश्रय भी तभी लिया जाता है, जब किसी पक्षधर्म में साध्य की स्थिति सिद्ध करनी हो; जैसे—पर्वत में अग्नि की स्थिति। महानस जैसे सपक्ष धर्म अर्थात् निश्चित आश्रय, और सरोवर जैसे विपक्ष धर्म अर्थात् असम्भव आश्रय में अग्नि रूप साध्य को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि सपक्ष धर्म में साध्य की स्थिति निश्चित है; और विपक्ष धर्म में असम्भव है। पर्वत में अग्नि की स्थिति सिद्ध करने के लिए अनुमान के विभिन्न पांच अवयवों का स्वरूप इस प्रकार होगा—

(क) प्रतिज्ञा—वह पर्वत अग्निमान् है।

(ख) हेतु—धूम वाला होने से।

(ग) उदाहरण—जो जो धूमयुक्त होता है, वह अग्नियुक्त होता है, जैसे महानस; (अन्वय)। जो धूमयुक्त नहीं होता, वह अग्नियुक्त भी नहीं होता, जैसे सरोवर (व्यतिरेक)।

(घ) उपनय—वह पर्वत अग्नि से व्याप्य धूम से युक्त है, अथवा वह पर्वत महानस के समान धूमवान् है।

(ङ) निगमन—अतः वह पर्वत अग्निमान् है।

---

१. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥ —व्यक्तिविवेक १४

२. यऽप्यर्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता॥ व्यक्तिविवेक १.३०,३१

महिमभट्ट ने उक्त प्रक्रिया के आधार पर आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के उदाहरणों को अनुमान गम्य सिद्ध करने का प्रयास किया है उदाहरणार्थ गोदावरी तीर-स्थित संकेत-कुंज में आ धमकने वाले किसी धार्मिक व्यक्ति से कुलटा का यह कथन—'अब इस कुंज में निर्भय होकर भ्रमण करो, क्योंकि यहां के वासी सिंह ने कुत्ते को मार डाला है'[1]—वाच्यार्थ रूप मे विधि-वाक्य प्रतीत होता हुआ भी व्यंग्यार्थ रूप में निषेध वाचक है कि यहां मत घूमा करो। महिमभट्ट के अनुसार यह निषेधार्थ अनुमान-गम्य है, न कि व्यञ्जना-गम्य। अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी—

—यह धार्मिक व्यक्ति (पक्ष) सिंह-युक्त गोदावरी-तीर पर भ्रमणवान् नहीं है=साध्य।

—क्योंकि कुत्ते के लौट जाने पर ही वह भ्रमण कर सकता है=हेतु।

– किसी भी अन्य भीरु व्यक्ति के समान=दृष्टान्त।

परन्तु ध्वनिवादी इस निषेध-रूप अर्थ को अनुमान का विषय नहीं मानते। अनुमान की व्याप्ति सद् अर्थात् निश्चित हेतु से ही सम्भव है; असद् अर्थात् अनिश्चित हेतु से नहीं। पर ध्वनि-काव्य कवि की कल्पना पर आश्रित होने के कारण असद्हेतु से युक्त भी होता है। उक्त उदाहरण मे 'जहां-जहां भीरु का अभ्रमण होगा, वहां-वहां भय का कारण अवश्य होगा'—यह व्याप्ति असंगत है, क्योंकि भीरु लोग भी भययुक्त स्थान पर गुरु की कठोर आज्ञा अथवा प्रिया के अनुराग अथवा किसी अन्य कारण से भ्रमण करते देखे जाते हैं। अतः यहां सद्-हेतु न होकर अनैकान्तिक (अनिश्चयात्मक) हेत्वाभास है।

इसके अतिरिक्त उक्त अनुमान-प्रक्रिया विरुद्ध और असिद्ध नामक दो अन्य हेत्वाभासों के कारण भी युक्तिसंगत नहीं है—

(क) वह धार्मिक व्यक्ति कुत्ते की अपवित्रता के कारण उससे भयभीत हो कर तो वहां भ्रमण नहीं कर सकता, पर वीर व्यक्ति होने से सिंह से भयभीत न होने के कारण वह उस स्थान पर भ्रमण कर सकता है—यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

(ख) गोदावरी तीर पर सिंह है भी या नहीं—यह न तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है और न अनुमान प्रमाण द्वारा। आप्त-प्रमाण द्वारा भी यह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सिंह की सूचना देने वाली कुलटा अथवा सामान्या नारी है,

---

१. भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छनिकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

—का० प्र० ५.१३९ (संस्कृतच्छाया)

जिसका वचन प्रमाण नहीं माना जा सकता यह असिद्ध हेत्वाभास है। इन सब कारणों से व्यंजना-शक्ति के स्थान पर अनुमान का मानना सर्वथा, असंगत है।

× × ×

इस प्रकार ध्वनिवादियों ने अन्य विरोधी पक्षों का युक्ति-संगत खण्डन करके व्यञ्जना (ध्वनि) की सुदृढ़ स्थापना की है। इस प्रसग के अन्त में 'अलंकारसर्वस्व' के व्याख्याकार जयरथ का यह कथन उद्धरणीय है—

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा ।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः ॥
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम् ।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः ॥

अर्थात् ध्वनि-विरोध के सम्बन्ध मे निम्नोक्त १२ विप्रतिपत्तियां निर्दिष्ट की जा सकती हैं—

(१) तात्पर्या वृत्ति,
(२) अभिधा शक्ति,
(३,४) लक्षणा शक्ति के दो भेद—[सम्भवतः जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था],
(५,६) अनुमान के भेद—[अज्ञात],
(७) अर्थापत्ति [अनुमान पक्ष का ही एक परिष्कृत रूप],
(८) तन्त्र [सम्भवतः श्लेषालंकार के समक्ष, किन्तु श्लेषालंकार अभिधा का ही विषय है, देखिए पृष्ठ २६],
(९) समासोक्ति आदि अलंकार [देखिए पृष्ठ ८६-६२],
(१०) रसकार्यता [अर्थात् रससिद्धान्त : देखिए—'काव्य की आत्मा'],
(११) भोग [भट्टनायक का मन्तव्य : रसनिष्पत्ति-प्रसंग में],
(१२) व्यापारान्तरबाधन—हमारे विचार में सम्भवतः इससे अभिप्रेत यह है कि 'ध्वनि' को ध्वनि न कहकर 'व्यापारान्तरबाधन' कहना चाहिए, क्योंकि यह वह व्यापार है जिसके द्वारा वाच्यार्थ को बाधित (अस्वीकृत) समझा जाता है।[1]

००

शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र-विषयक उपर्युक्त समग्र विवेचन के आधार पर हम निम्नोक्त निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये तीनों प्रसंग परस्पर-सम्बद्ध है—

---

१. डॉ० वी. राघवन को इससे कुन्तक-सम्मत 'वक्रोक्ति' अभिप्रेत है (देखिए 'काव्य की आत्मा'), और प्रो० कुप्पुस्वामी को 'अनिर्वचनीयतावाद'। (देखिए पृष्ठ ६३)

शब्दशक्ति के तीन भेदों में से अभिधा शक्ति केवल काव्य-भाषा का ही नहीं, प्रत्येक प्रकार की भाषा का मूलाधार है। कारण स्पष्ट है कि वाच्यार्थ का ज्ञान भाषा का अनिवार्य अंग है—इसके बिना कोई भी उच्चरित ध्वनि (आवाज़) नाद-मात्र है। किसी वर्ण-समूह का यदि कोई अर्थ नहीं है, उसका श्रवण तो नाद-मात्र है ही, साथ ही, यदि किसी वर्ण-समूह (शब्द) का चाहे जो भी कोई अर्थ हो, पर यदि कोई श्रोता उससे अनभिज्ञ है, तो वह वर्ण-समूह भी उसके लिए नाद-मात्र है। यह वर्ण-समूह उस श्रोता के लिए तभी 'वाचक शब्द' कहाने का अधिकारी है जब उसे उसका व्यवहृत अर्थ ज्ञात हो जाएगा। इस प्रकार वाचक शब्द ही भाषा-जन्य पारस्परिक व्यवहार की आधार-भित्ति है और इसकी निर्णायिका है अभिधा शब्द-शक्ति।

—अभिधा शक्ति द्वारा वाच्यार्थ-बोध के उपरान्त किन्हीं विद्वानों के अनुसार तात्पर्या वृत्ति द्वारा वाक्यार्थ-ज्ञान होता है, और कई विद्वान् वाक्यार्थ-ज्ञान भी अभिधा-शक्ति द्वारा स्वीकृत करते हैं। हम प्रथम वर्ग के विद्वानों के साथ सहमत हैं। इस प्रकार अभिधा और तात्पर्य वृत्ति ये दोनों मिलकर, अथवा केवल अभिधा-वृत्ति द्वारा, भाषा का वास्तविक स्वरूप स्थिर हो जाता है।

—काव्य-भाषा का स्वरूप अब यहीं से प्रारम्भ होता है। लक्षणा और व्यञ्जना शब्दशक्तियों के भेदोपभेदों के स्थल वाच्यार्थ-बोध के उपरान्त ही अवगत होते हैं। इनमें से आनन्दवर्द्धन के अनुसार काव्य के, इस प्रसंग में कहना चाहें तो काव्य-भाषा के, अर्थज्ञान के लिए व्यंजना शक्ति अनिवार्यतः अपेक्षित है, और इसके द्वारा प्रतीत अर्थ व्यंग्यार्थ कहाता है, जिसे उन्होंने 'ध्वनि' भी नाम दिया है।

—ध्वनि की प्रमुखता, गौणता एवं अस्फुटता के आधार पर आनन्दवर्द्धन ने समग्र काव्य को—चाहे वह किसी देश एवं समय की भाषा में रचित हो—क्रमशः तीन प्रमुख प्रकारों में विभाजित कर दिया है—ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य। इनमें व्यंग्यार्थ उक्त किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहेगा, तभी उनके अनुसार यह ध्वनि-रूप साधनभूत तत्त्व 'काव्य की आत्मा' है।

इस प्रकार शब्दशक्ति और ध्वनि-सिद्धान्त परस्पर अनुस्यूत एवं सूत्र-ग्रथित हैं, और इनमें भी ध्वनि-सिद्धान्त एक शृंखला के रूप में शब्दशक्ति-प्रकरण पर आधारित है, और ये दोनों प्रसंग काव्यार्थ के ज्ञान-निर्णय के लिए भारतीय प्रज्ञा के अद्भुत प्रतीक हैं।

००

: चतुर्थ खण्ड :

ध्वनि-सिद्धान्त और रस

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन माने जाते हैं और ध्वनि-निरूपक प्रमुख आचार्य हैं—मम्मट तथा जगन्नाथ। यों तो रसवादी विश्वनाथ ने भी अपने ग्रन्थ में ध्वनि-प्रकरण को स्थान दिया है, तथा हेमचन्द्र, विद्याधर और विद्यानाथ ने भी ध्वनि का निरूपण किया है, पर उनके इन स्थलों में विशेष नवीनता नहीं है।

मम्मट और जगन्नाथ ने आनन्दवर्द्धन के अनुकरण में ध्वनि के एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के अन्तर्गत रस, भाव आदि का प्रतिपादन किया है, पर विश्वनाथ ने रसादि को उक्त ध्वनि-भेद का समानार्थक स्वीकार करते हुए भी इनका विस्तृत निरूपण ध्वनि-प्रकरण से पूर्व ही प्रस्तुत किया है। कारण स्पष्ट है कि विश्वनाथ ने ध्वनि के स्थान पर रस की काव्यात्म-रूप में स्वीकृति की है। पर इतना साहस विश्वनाथ भी नहीं कर सके कि ध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (रसादि) नामक भेद की अस्वीकृति करके वे ध्वनिवादियों की पुष्ट परम्परा का उल्लंघन कर देते। अस्तु!

रस : ध्वनि का एक भेद—रस, भाव, रसाभास आदि को ध्वनि का एक भेद स्वीकृत करने में आनन्दवर्द्धन का प्रमुख तर्क यह है कि रसादि की अनुभूति व्यंजना वृत्ति (ध्वनि) द्वारा होती है; न कि अभिधा वृत्ति द्वारा।[1] अतः ये वाच्य न होकर व्यंग्य ही हैं—

—इस तर्क की पुष्टि में एक प्रमाण तो यह है कि 'किसी भी रचना में विभावादि की परिपक्व सामग्री के अभाव में रस, स्थायिभाव और विभावादि, अथवा इनके विभिन्न प्रकारों में से एक अथवा अनेक काव्य-तत्त्व का नामोल्लेख मात्र कर देने से रसानुभूति नहीं हो जाती।'[2] उदाहरणार्थ—

(क) **तामुद्वीक्ष्य कुरंगाक्षीं रसः नः कोऽप्यजायत।**
[**'उस मृगाक्षी को देख के हम में, हो गया उत्पन्न विचित्र-सा रस।'**]

(ख) **चन्द्रमण्डलमालोक्य शृंगारे मग्नमन्तरम्।**
[**'देखते ही शशि-मण्डल को, मन हो गया शृंगार में मग्न।'**]

---

१. **रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापार-विषय इति वाच्याद् विभिन्न एव।** —ध्वन्या० १.४ (वृत्ति)

२. **न हि शृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रस-वत्त्वप्रतीतिरस्ति।** —ध्वन्या० १.४ (वृत्ति)

(ग) अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ।
['जब देख लिया तुझको उसने, रति जाग गयी उसके मन में ।']

(घ) जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने ।
['प्रिय ने जब मुख चूम लिया उसका, तो लाजवती बनी भोली प्रिया ।']

उपर्युक्त वाक्यों में रस, श्रृंगार, रति और लज्जा शब्दों की विद्यमानता होने पर भी अलौकिक चमत्कारजनक रसादि की प्रतीति नहीं होती ।

—इस तर्क की पुष्टि में दूसरा प्रमाण यह है कि 'विभावादि की संयुक्त सामग्री का [व्यंजना (ध्वनि) द्वारा प्राप्य] व्यंग्यार्थ ही रसानुभूति कराने में समर्थ है; न कि [अभिधा द्वारा प्राप्य] वाच्यार्थ ।[1] उदाहरणार्थ—'शून्य वासगृहं विलोक्य शनयाद्……'[2] इत्यादि श्रृंगार-रस-युक्त रचना में विभावादि-सामग्री के संयोग की वाच्यार्थता चारुत्वोत्पादक नहीं है; अपितु नायक-नायिका के उल्लास और आवेग-पूर्ण प्रणय की प्रतीति-रूप व्यंग्यार्थ ही चमत्कार का कारण है । हाँ, वाच्यार्थ साधन अवश्य है; पर इसका साध्य तो व्यंग्यार्थ ही है ।

रसध्वनि : ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद—ध्वनिवादियों के मतानुसार ध्वनि के प्रमुख दो भेद हैं—लक्षणामूला ध्वनि और अभिधामूला ध्वनि । लक्षणामूला ध्वनि के दो प्रमुख भेद हैं—अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि और अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि । अभिधामूला ध्वनि के भी प्रमुख दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, आदि आठ) और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य । संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भी प्रमुख दो भेद हैं—वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि । इस प्रकार कुल मिलाकर ध्वनि के प्रमुख पांच भेद हैं ।[3] पर इन भेदों में से ध्वनिवादियों ने यत्र-तत्र अपने ग्रंथों मे रसादि-ध्वनि की न केवल सर्वोत्कृष्टता घोषित की है,[4] अपितु अन्य भेदों के चमत्कार को भी रसादि-ध्वनि पर अवलम्बित माना है ।[5]

ध्वनिवादियों द्वारा प्रस्तुत रसादि-ध्वनि के उदाहरणों से यदि शेष चार ध्वनि-भेदों के उदाहरणों की तुलना की जाए तो रसादि-ध्वनि की उत्कृष्टता स्वतः सिद्ध हो

---

१. यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः । तस्मात् × × × अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम् । न त्वभिधेयत्वं कथंचित् । —ध्वन्या० १.४ (वृत्ति) पृष्ठ २७

२. देखिए पृष्ठ ११०, पा० टि० १

३. ध्वनि-भेदों के लिए देखिए पृष्ठ ६६-६७

४. देखिए, आगे 'काव्य की आत्मा' में 'रससिद्धान्त' ।

५. प्रतीयमानस्य चाऽन्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवापेक्षणं प्राधान्यात् ।
—ध्वन्या० १.५ (वृत्ति)

जाती है। रसादि-ध्वनि के उदाहरणों में वाच्यार्थ के ज्ञान के उपरान्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए सहृदय को क्षण भर के लिए भी रुकना नहीं पड़ता; पर शेष चार भेदों के उदाहरणों में व्यंग्यार्थ-प्रतीति के लिए सहृदय को कुछ न कुछ आक्षेप करना पड़ता है; जिसके लिए उसे कहीं अधिक अथवा कहीं थोड़े क्षणों के लिए अवश्य रुकना पड़ता है। उदाहरणार्थ—

(क) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के—

'मैं कठोर-हृदय राम हूं, सब कुछ सहन करूँगा',[1] इस उदाहरण में 'राम' शब्द का 'दुःखातिशय-सहिष्णु' रूप ध्वन्यर्थ;

(ख) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के—

'आप ने बहुत उपकार किया है, आपकी सुजनता के क्या कहने!'[2] इस उदाहरण में 'उपकार' का 'अपकार' रूप और सुजनता का 'खलता' रूप ध्वन्यर्थ;

(ग) वस्तुध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के—

'हे पथिक! इन उन्नत पयोधरों को देखकर यदि बिछौना आदि सुख-साधनों से रहित इस घर में रात बिताना चाहते हो तो रह जाओ[3], इस उदाहरण में 'कामुकी ग्रामीणा का निमन्त्रण' रूप ध्वन्यर्थ; तथा

(घ) अलंकारध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के—

'हे सखि! प्रिय-संगम के समय विश्रब्ध होकर सैकड़ों मधुर वचन बोल सकने के कारण तू धन्य है; पर मैं तो नितान्त संज्ञाहीन हो जाती हूँ',[4] इस उदाहरण में 'तू तो अधन्य है, पर मैं धन्य हूं', यह व्यतिरेकालंकारमूलक ध्वन्यर्थ—

—ये सभी, वाच्यार्थ-प्रतीति के तुरन्त बाद प्रतीत नहीं होते। इन उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए कुछ क्षण अपेक्षित रहते हैं; और साथ ही अपनी ओर से आक्षेप भी करना पड़ता है, परन्तु 'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनाद्' वाला चिरं

---

१. स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त × × × रामोऽस्मि सर्वं सहे।—ध्वन्या० २.१ (वृत्ति)

२. उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता × × ×। का० प्र० ४.२४

३. पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस॥ का० प्र० ४.५८

४. धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि, विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण, सख्यः! शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि॥
—का० प्र० ४.६१

चुम्बिता ।'[1] इत्यादि रसध्वनि के उदाहरणों में नायक-नायिका की प्रणयातिशय-रूप व्यंग्यार्थ-प्रतीति त्वरित और बिना अधिक आक्षेप किये हो जाती है। हमारे विचार मे रसध्वनि की सर्वोत्कृष्टता का यही प्रमुख कारण है।

इसके अतिरिक्त एक गौण कारण भी है—ध्वनि के अन्य भेदों के उदाहरण, 'रस' शब्द के व्यापक अर्थ में, रस, भाव आदि में से किसी न किसी के उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ ध्वन्या० २.२२ (वृत्ति)

['हिमालय के आगे नारद मुनि द्वारा पार्वती के विवाह-प्रसंग की चर्चा चलने पर पार्वती मुख नीचा करके लीला-कमल की पखुड़ियाँ गिनने लगी।']

आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि' के इस उदाहरण मे 'लीला-कमल की पंखुड़ियाँ गिनना' वाच्यार्थ है; और 'लज्जा का आविर्भाव' व्यंग्यार्थ। निस्सन्देह प्रथम और द्वितीय अर्थ की प्रतीति में थोड़े क्षणों का व्यवधान अवश्यम्भावी है, पर फिर भी, इस कथन को रसादि-ध्वनि में से 'भाव' (पूर्वराग विप्रलम्भ शृंगार-भाव) का उदाहरण बड़ी सरलता के साथ माना जा सकता है।

इसी प्रकार वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के भेदों में भी रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति का अंश किसी न किसी रूप में ढूंढा जा सकता है। इसी आधार पर रसध्वनि (रसादिध्वनि) की सर्वोत्कृष्टता स्वतः सिद्ध समझी जा सकती है। इतना ही नहीं; गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य के भी भेदोपभेदों में रसादि-ध्वनि का अंश किसी न किसी रूप में स्वीकृत किया जा सकता है।

किन्तु आनन्दवर्द्धन, फिर भी 'रसध्वनि' की सत्ता सर्वत्र स्वीकृत नही करते। उनके कथनानुसार 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि अर्थात् रसादि-ध्वनि वहीं स्वीकृत करनी चाहिए, जहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव ये तीनों साक्षात् शब्द[2] से, अर्थात् स्पष्टतः, निवेदित हों, अन्यथा नहीं—

न चायमलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः। यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यः विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः स तस्य केवलस्य मार्गः।
—ध्वन्या० २.२२ (वृत्ति)

---

१ शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥ का० प्र० ४.३०

२ 'साक्षात् शब्द' से तात्पर्य यहाँ विभावादि की 'स्वशब्दवाच्यता' नही है।

इसी प्रकार आनन्दवर्द्धन ध्वनि (व्यंग्यार्थ) के तारतम्य के आधार पर विभिन्न काव्य-भेदों का नामकरण किसी विशेष काव्यतत्त्व के आधार पर ही करते हैं।[1] उदाहरणार्थ, रसादि में से किसी न किसी तत्त्व के गौण रूप में विद्यमान रहने पर भी वस्तुध्वनि अथवा अलंकारध्वनि के उदाहरणों को क्रमशः 'वस्तुध्वनि' और 'अलंकार-ध्वनि' ही कहा जाएगा। इन्हें 'रसादिध्वनि' नाम नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि इनमें क्रमशः वस्तु अथवा अलंकार की व्यंजकता की ही प्रधानता रहती है, 'रसध्वनि' तो इनमें गौण रूप से ही होती है।

फिर भी, इतना अवश्य है कि काव्य के सभी प्रकारों—ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य— के सभी भेदोपभेदों में से केवल 'रसादि' नामक काव्य-तत्त्व ही है, जोकि सर्वत्र किसी न किसी रूप में विद्यमान रह सकता है, अन्य कोई ऐसा काव्य-तत्त्व नहीं है। इसी में ही रस (रसादि-ध्वनि) की महत्ता निहित है। इस ध्वनि-भेद की सर्वोत्कृष्टता का एक अन्य प्रमाण यह भी है।

इसके अतिरिक्त ध्वनिवादियों ने रस (रसध्वनि) की महत्ता एक अन्य रूप में भी उपस्थित की है। उन्होंने काव्य (शब्दार्थ) के सभी चारुत्व-हेतुओं—गुण, रीति और अलंकार—को रस के साथ सम्बद्ध कर दिया है[2]—

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः॥ ध्वन्या० २.४

[अर्थात्, जहां नाना प्रकार के शब्द और अर्थ तथा उनके चारुत्वहेतु (शब्दालंकार और अर्थालंकार) रसपरक (रसादि के अंग) होते हैं, वह ध्वनि का विषय है।]

और इस प्रकार—

—दण्डि-सम्मत वैदर्भ मार्ग के प्राणभूत 'गुण' अब रस के उत्कर्षक तत्त्व मान लिए गये।[3]

—वामन-सम्मत काव्य की आत्मरूप 'रीति' की सार्थकता अब रसादि की अभिव्यक्त्री अथवा उपकर्त्री रूप में स्वीकार कर ली गयी।[4]

—सबसे अधिक दयनीय दशा अलंकार की हुई। भामहादि-सम्मत 'काव्य-सर्वस्व' अलंकार अब शब्दार्थ के धर्म बन कर परम्परा-सम्बन्ध से रस के उपकारक मात्र घोषित कर दिए गए; और वह भी अनिवार्य रूप से नहीं।[5] इतना ही नहीं,

---

१. प्राधान्येन व्यपदेशा: भवन्ति।

२. देखिए, आगे 'काव्य की आत्मा' में 'रससिद्धान्त।'

३. का० प्र० ८.६६

४. ध्वन्या० ३.६; सा० द० ९.१

५. का० प्र० ८.६७

जिन स्थलों में अलंकार-सौन्दर्य के आधिक्य के कारण 'व्यंग्यार्थ' अस्फुट बन कर जाए, वहाँ 'अलंकार' को 'चित्र-काव्य' अथवा 'अधम-काव्य' कह कर इसके प्र अवहेलना प्रकट की गयी।

निष्कर्ष यह कि रस की सर्वोत्कृष्टता और महत्ता की सिद्धि में ध्वनिवादि ने अपना पूर्ण बल लगा दिया, यहाँ तक कि 'दोष' की परिभाषा भी उन्होंने रस अपकर्ष पर आधृत की,[1] और दोष के नित्यानित्य रूप को भी रस के ही अपकर्ष अथ अनपकर्ष पर अवलम्बित किया।[2] धीरे-धीरे इस धारणा का परिणाम यह हुआ आगे चलकर विश्वनाथ ने रस को 'काव्य की आत्मा' के रूप में घोषित कर दिय किन्तु ध्वनिवादियों को ध्वनि को ही रस की आत्मा मानना अभीष्ट था, क्यो उनकी दृष्टि में रस अपनी शास्त्रीय परिभाषा में परिबद्ध है, तथा वह व्यंग्यार्थ (ध्व पर ही अवलम्बित है।[3]

---

१. का० प्र० ७.४६

२. ध्वन्या० २.११

३. विशेष विवरण के लिए देखिए 'काव्य की आत्मा' में 'रससिद्धान्त।'

तृतीय अध्याय

२२. काव्य की आत्मा

आत्मा शब्द

'आत्मा' शब्द से अभिप्रेत अर्थ—'आत्मा' शब्द मूलतः काव्यशास्त्र का न होकर, न्याय, वेदान्त आदि विभिन्न दर्शनों का है,[1] और काव्यशास्त्र में इसका प्रयोग लाक्षणिक रूप में किया गया है। आत्मा शब्द के विभिन्न लक्षणों[2] में से एक है, **चैतन्यमात्मा** : चेतनता को आत्मा कहते हैं, दूसरा है, **ज्ञानाधिकरणमात्मा** : आत्मा ज्ञान का अधिकरण (आधार) है, अर्थात् आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, अथवा ज्ञान ही आत्मा है। स्पष्ट है कि आत्मा के उक्त दोनों लक्षण सभी प्राणियों के, विशेषतः मानव के, शरीर को लक्ष्य मे रखकर प्रस्तुत किये गये है, और इसी कारण, इसी प्रसंग मे, आत्मा को 'शरीरी' भी कहते हैं। यह शरीरी अथवा शरीरस्थ आत्मा 'प्राण' का पर्यायवाची है[3], जिसके बिना शरीर गतिहीन अतएव नितान्त निरर्थक है। लगभग उक्त प्राण अथवा चेतनता (ज्ञान) अर्थ को लेकर काव्यशास्त्र में भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'काव्य की आत्मा'[4], में 'आत्मा' शब्द से अभिप्रेत है **काव्य का तत्त्व अथवा सार**[5], **जिसके माध्यम से सहृदय पाठक अथवा दर्शक को काव्य के प्रमुख प्रयोजन काव्यानन्द अथवा रस की प्राप्ति होती है।**

---

१. 'आत्मा' का स्वरूप न्याय, वेदान्त, मीमांसा आदि छह आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त चार्वाक आदि नास्तिक दर्शनों में भी प्रस्तुत किया गया है।

२. इस प्रसंग में 'आत्मा' के निम्नोक्त लक्षण द्रष्टव्य हैं :

(क) चैतन्यमात्मा। शिवसूत्र (ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी व्याख्या, भास्करी टीका, पृष्ठ २४५)।

(ख) इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्। न्यायदर्शन १.१.१०

(ग) आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली १.४७

(घ) आत्मत्वाभिसम्बन्धवान् आत्मा। तर्कभाषा

(ङ) ज्ञानाधिकरणमात्मा। तर्कसंग्रह

(च) 'प्राण एवात्मा' इति केचित् श्रुत्यन्तविदः (वेदान्तिनः)।

(छ) चैतन्यविशिष्टशरीरमात्मा, इति चार्वाकाः। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

३. मैकडोनल ने 'आत्मा' शब्द की व्युत्पत्ति अन् (सांस लेना) धातु से मानते

दूसरे शब्दों में, यह वह तत्त्व है जो कि काव्य में व्यावर्तक धर्म के रूप में रह कर काव्य को एक ओर लौकिक कथनों से और दूसरी ओर शास्त्रीय वचनों से भिन्न रूप में प्रस्तुत कर देता है। निःसन्देह यहाँ 'आत्मा' शब्द अपने वाचक रूप में प्रयुक्त न होकर लक्षक रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसका वाच्यार्थ तो है चेतनता अथवा ज्ञान, किन्तु यहाँ इसका लक्ष्यार्थ है काव्य का अनिवार्य तत्त्व। उधर शरीर के प्रसंग में, हमारे दैनिक क्रिया-कलाप के लिए जो अनिवार्य साधन अथवा माध्यम है वह आत्मा, चेतनता अथवा ज्ञान अथवा किन्हीं के मतानुसार 'प्राण' कहाता है, तो इधर शब्दार्थ-रूप-काव्यशरीर के प्रसंग में भी काव्य के प्रमुख प्रयोजन-रूप-आह्लाद अथवा रस के लिए जो अनिवार्य साधन एवं माध्यम है वह आत्मा कहाता है। उधर दैनिक क्रिया-कलाप साध्य अथवा सिद्धि है तो इधर काव्यानन्द अर्थात् रस साध्य अथवा सिद्धि है और दोनों का साधन है आत्मा—शरीर के पक्ष में चेतनता अथवा ज्ञान, और काव्य-शरीर के पक्ष में वह तत्त्व क्या है? इसी पर यहां प्रकाश डालना अपेक्षित है।

निष्कर्षतः, काव्य के प्रसंग में 'आत्मा' शब्द से अभिप्रेत है काव्य का अनिवार्य, व्यापक एवं आन्तरिक सार अथवा तत्त्व जो कि इसमें साधन रूप से सदा विद्यमान रहता है।

हुए इसका मूल अर्थ श्वास या प्राण माना है, तथा ऋग्वेद में आत्मा शब्द श्वास अर्थ में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। किन्तु आचार्य शंकर ने कठोपनिषद् के भाष्य में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति इन चार धातुओं से मानी गयी है—आप्, आङ् पूर्वक दा, अद् तथा अस्—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्माद् आत्मेति कीर्त्यते॥

[आत्मा को आत्मा इसलिए कहा जाता है कि यह (१) विषयों को प्राप्त करती है, (२) इन्हें ग्रहण करती है, (३) इनका उपभोग करती है, और (४) यह विद्यमान रहती है अर्थात् यह 'सत्' है।

४. 'आत्मा' शब्द को यहाँ हिन्दी-प्रयोग के अनुसार स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया गया है।

५. (क) आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः सारत्वं . . . दर्शयति।

—ध्वन्यालोकलोचन १.१

(ख) आत्मनो हि सारत्वं विशेषहेतुत्वं च प्रसिद्धम्, तद्वदस्यापि सारत्वमुत्कृष्ट-लक्षणम्। ध्वन्यालोक : कौमुदी-टीका १.१

इसी प्रसंग में यह शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि चेतनता अथवा ज्ञान अथवा आत्मा को और इससे साध्य अर्थात् क्रिया-कलाप को मूलतः एक ही स्वीकार करते हुए स्वयं आत्मा को ही सिद्धि मान लेना चाहिए, किन्तु इस प्रकार की मान्यताएं केवल उपचार द्वारा ही स्वीकार की जाती हैं—'कार्ये कारणोपचारः', सामान्य रीति से स्वीकार नहीं की जातीं। यही कारण है कि आत्मा के एक लक्षण में आत्मा को साधन रूप में स्वीकार करते हुए इन्द्रिय आदि का अधिष्ठता (संचालक) कहा गया है—**आत्मा इन्द्रियाद्यधिष्ठाता** अर्थात् आत्मा कारण (साधन) है और इन्द्रिय-जन्य कार्य-कलाप कार्य (साध्य) है।

काव्यशास्त्र में 'आत्मा' का प्रयोग—काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम 'आत्मा' शब्द का प्रयोग वामन (८वीं शती) ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए किया—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। इनके उपरान्त इसी दृष्टि से आनन्दवर्द्धन (९ वीं शती) ने ध्वनि को, और विश्वनाथ (१४ वीं शती) ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया—'**ध्वनिरात्मा काव्यस्य**', '**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**, और इन दोनों आचार्यों के मध्यवर्ती आचार्य कुन्तक (१२ वीं शती) ने 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए इस शब्द के स्थान पर 'जीवित' शब्द का प्रयोग किया।[1] इस प्रसंग के अतिरिक्त 'काव्यपुरुष-रूपक' को उद्धृत करते हुए सर्वप्रथम राजशेखर (१०वीं शती)[2] ने, और इनके उपरान्त विश्वनाथ (१४ वीं शती) ने 'आत्मा' शब्द का व्यवहार किया—

काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत् इति।

—सा० द० १म परि०, पृष्ठ १९

वस्तुतः देखा जाए तो यही रूपक ही 'काव्य की आत्मा (शरीरस्थ आत्मा अथवा शरीरी) किसे माना जाए'—इस प्रश्न का सर्वाधिक उत्तरदायी है। यह रूपक वामन के समय तक पूर्णतः स्पष्ट नहीं हुआ था। इनसे पूर्व दण्डी ने 'पदावली' को काव्य का शरीर बताते हुए 'शरीर' शब्द का, तथा 'वैदर्भ' मार्ग के प्रसंग में 'प्राण' शब्द का प्रयोग किया था[3] और इनके बाद वामन ने उपर्युक्त

---

१. यह कथन कुन्तक के ग्रन्थनाम 'वक्रोक्तिजीवितम्' के आधार पर कहा जा रहा है। इस ग्रन्थ की किसी कारिका में वक्रोक्ति को 'जीवित' नहीं कहा गया—यद्यपि उन्हें इसे 'जीवित' अथवा 'आत्मा' मानना निस्सन्देह अभीष्ट था।

२. काव्यमीमांसा पृष्ठ १३-१४

३. (क) **शरीरं तावद् इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली**। का० आ० १.१०

(ख) **इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः**। का० आ० १.४२

रूप में केवल 'आत्मा' शब्द का। वामन-पर्यन्त सभी आचार्य—भामह, दण्डी, उद्भट और वामन—गुण, अलंकार, दोष, रस आदि से परिचित थे, तो भी 'काव्य-पुरुष-रूपक' का अभी निर्माण नहीं हुआ था। यद्यपि आनन्दवर्द्धन के समय में, और आगे चलकर कुन्तक के समय तक इस रूपक का निर्माण नहीं हुआ था, पर ध्वनि—विशेषतः रसध्वनि (अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि)—के आधार पर अलंकार, गुण, दोष और रीति का समुचित मूल्यांकन एवं स्वरूप-निर्धारण हो चुका था। अब इनके समय तक उक्त रूपक के निर्मित न होने पर भी काव्य की आत्मा किसे माना जाए—इस प्रश्न के यथावत् उत्तर की आवश्यकता उपस्थित हो गयी थी। अस्तु!

इस प्रकार यद्यपि आचार्य वामन-पर्यन्त 'आत्मा' शब्द अपने परवर्ती विशिष्ट अर्थ में पूर्णतः स्थिर नहीं हुआ था, तो भी यह धारणा प्रबल रूप में मान्य हो चली थी कि काव्य में कोई न कोई तत्त्व (सार) अनिवार्यतः विद्यमान रहता है—भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के अनुसार यह तत्त्व 'अलंकार' था, और वामन के मत में 'रीति' और आगे चलकर, जैसा कि पहले लिख आये हैं, 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति और 'रस' को काव्य की आत्मा माना गया। इस प्रकार 'काव्य की आत्मा' के निर्धारण करने के लिए उक्त पांचों काव्य-तत्त्वों का स्वरूप-प्रतिपादन एवं तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

१. अलंकार-सिद्धान्त

भामह, दण्डी और उद्भट ने यद्यपि अलंकार को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा कहीं भी नहीं कहा, तो भी इन सब की, विशेषतः दण्डी की, निम्नोक्त मान्यताओं से स्पष्ट है कि वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व एवं अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते थे—

१. भामह ने अलंकार को काव्य का एक आवश्यक आभूषक तत्त्व मानते हुए कहा कि अनेक आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रूपक आदि अलंकार [काव्य में इस प्रकार आवश्यक हैं जिस प्रकार] किसी नारी का सुन्दर मुख भी आभूषणों के बिना शोभित नहीं होता।[१]

२. ये आचार्य काव्य के सभी शोभाकर धर्मों को अलंकार नाम से अभिहित करने के पक्ष में हैं। दण्डी के शब्दों में—काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते (काव्यादर्श २.१)। इसका तात्पर्य यह है कि अनुप्रास, उपमा आदि तो काव्य के शोभाकारक धर्म होने के कारण अलंकार है ही, गुण, रस, भाव, रसाभास, भाव

---

१. (क) रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥ का० अ० १.१३

(ख) अनेन वागर्थविदामलंकृता।
विभाति नारीव विदग्धमण्डना॥ का० अ० ३.५८

भास आदि भी दण्डी के अनुसार उक्त आधार पर 'अलंकार' नाम से अभिहित होते हैं। भामह आदि अलंकारवादियों की इस धारणा की पुष्टि के लिए निम्नोक्त तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(क) इन आचार्यों ने अंगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास तथा भाव-शान्ति को परवर्ती आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों के अनुमान इन्हीं नामों से अभिहित न कर इन्हें क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वी और समाहित अलंकार नाम दिया है[1], और उद्भट ने अंगभूत इन सभी को 'द्वितीय उदात्त अलंकार' माना है।[2]

(ख) गुण को यद्यपि स्पष्टतः अलंकार नहीं कहा गया, किन्तु दण्डी के एक कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उपमा आदि अर्थालंकारों की तुलना में अनुप्रास आदि अलंकारों तथा माधुर्य आदि दस गुणों को उन्हें 'साधारण अलंकार' कहना अभीष्ट है[3]—यद्यपि एक स्थल पर उन्होंने अलंकार और गुण दोनों को एक साथ स्पष्टतः अपने-अपने नामों से भी अभिहित किया है।[4]

(ग) ध्वनि को इन तीनों आचार्यों ने यद्यपि कहीं भी स्पष्टतः अलंकार नाम से अभिहित नहीं किया, किन्तु रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा, पर्यायोक्त (पर्यायोक्ति), अपह्नुति, दीपक, द्वितीय व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, संकर आदि अलंकारों के लक्षण अथवा उदाहरण इस तथ्य की ओर निस्सन्देह संकेत करते हैं कि ये आचार्य न केवल ध्वनि अथवा व्यञ्जना-तत्त्व से परिचित थे, अपितु वे इसका अन्तर्भाव उक्त अलंकारों में प्रकारान्तर से करना चाहते थे। निदर्शन के लिए इन तीनों आचार्यों की एक-एक कारिका लीजिए—

१. **समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।**
   यथैवाऽनभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः॥ काव्यालंकार (भामह) २.३४

२. **शब्दोपात्ते प्रतीते वा साहृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।**
   तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते॥ काव्यादर्श २.१८०

३. **पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाऽभिधीयते।**
   वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनाऽवगमात्मना॥ काव्यालंकारसारसंग्रह ५.६

---

१. काव्यालंकार (भामह) ३.५-७; काव्यादर्श (दण्डी) २.२-५

२. काव्यालंकारसारसंग्रह (उद्भट) ४.२,३,५,७; ४.८

३. **काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।**
   साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रकाश्यते॥ का० आ० २.३

४. काव्यादर्श ३.१८६

इन लक्षणों में प्रयुक्त 'गुणसाम्यप्रतीति', 'सादृश्यप्रतीयमान' तथा 'वाच्य और वाचक वृत्तियों से शून्य अवगमात्मकता' आदि प्रयोग यह मानने को बाध्य करते हैं कि उन्हें ध्वनि-तत्त्व को भी अलंकार में अन्तर्भूत करना अभीष्ट था, और यही कारण है कि ध्वनि के प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही ध्वनि-विरोधियों में [भाक्त और अनिर्वचनीयतावादियों के अतिरिक्त] अभाववादियों अर्थात् ध्वनि को न मानने वाले अलंकारवादियों का भी खण्डन किया।[1] इसी प्रसंग में उपर्युक्त अलंकारों में से अधिकतर के उदाहरण प्रस्तुत कर[2] आनन्दवर्द्धन ने यह सिद्ध किया कि ध्वनि का विषय इन अलंकारों के विषय से कहीं और आगे है। ध्वनि महा-विषयीभूत है, अतः पर्यायोक्त आदि अलंकारों का अन्तर्भाव ध्वनि में ही किया जाएगा, न कि ध्वनि का अन्तर्भाव इनमें।[3]

(घ) दण्डी ने प्रबन्धकाव्य को 'भाविक' अलंकार नाम दिया है। भाविक का व्युत्पत्ति-परक अर्थ है—जिस काव्य में कवि का भाव अर्थात् अभिप्राय आसिद्धि (समाप्ति-पर्यन्त) रहे। इसी प्रसंग में दण्डी ने महाकाव्यगत वस्तुपर्वों (आधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तु) की पारस्परिक उपकारिता का, तथा स्थानवर्णना अर्थात् प्रकृतोपयोगी विषयों के वर्णन का भी उल्लेख किया है।[4]

(ङ) काव्यशास्त्र से सम्बद्ध उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त दण्डी ने नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयों को भी 'अलंकार' नाम दिया है। सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्त्यंग, लक्षण[5] आदि को वे अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट करने के पक्ष में हैं—

> **यच्च सन्ध्यंगवृत्त्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।**
> **व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः॥** का० आ० २.३६७

काव्यादर्श के प्रख्यात टीकाकार रंगाचार्य रेड्डी के कथनानुसार इनमें से किन्हीं का अन्तर्भाव दण्डी द्वारा स्वीकृत स्वभावाख्यान (स्वभावोक्ति), उपमा आदि अलंकारों

---

१. तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
   केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्॥ ध्वन्या० १.१

२. ध्वन्यालोक १.१३ (वृत्ति)

३. विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ८६-६३

४. काव्यादर्श २,३६४-३६५

५. (क) सन्धि—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, सावमर्श और संहृति—५
   (ख) सन्ध्यंग—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन आदि—६४
   (ग) वृत्ति—कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती—४
   (घ) वृत्त्यंग—नर्मतत्, स्फूर्जतत्, स्फोटतत् और गर्भ—इन चारों अंगों से युक्त उक्त चारों वृत्तियां। इस प्रकार कुल वृत्त्यंग—१६
   (ङ) लक्षण—भूषण, अक्षर-संघात आदि ३६
   (देखिए ना० शा० १७-४१- सा० द० ६-१७१-१८)

मे किया जा सकता है, और किन्हीं का भाविक अलंकार में।[1] रंगाचार्य महोदय के वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि ३६ लक्षणों का अन्तर्भाव उपमादि अलकारों में किया जा सकता है, और सन्धियों, सन्ध्यंगों, वृत्तियों और वृत्त्यंगों का भाविक अलंकार में, क्योंकि ये सभी 'वस्तुपर्व' ही तो हैं।

इस प्रकार गुण, रस, ध्वनि, प्रबन्धकाव्य तथा नाट्यविषयों को ये अलंकार-वादी आचार्य, विशेषतः दण्डी, 'अलंकार' नाम से अभिहित करते हैं। अतः इनके मत में केवल अनुप्रास, उपमा आदि ही अलंकार नहीं हैं, अपितु काव्य के वे सभी तत्त्व अथवा अंग 'अलंकार' कहाते हैं, जो काव्य के चमत्कारोत्पादक अथवा सौन्दर्य-विधायक हैं।

निष्कर्षतः, अलंकारवादियों को अलंकार का व्यापक अर्थ अभीष्ट है, अर्थात् काव्य का सभी प्रकार का शोभाकारक धर्म अलंकार कहाता है।

× × ×

इस सन्दर्भ में दो प्रश्न विचारणीय हैं—

पहला प्रश्न यह कि भामह, दण्डी और उद्भट के अतिरिक्त क्या कोई अन्य आचार्य भी अलंकारवादी हैं? इस सम्बन्ध में हमारा उत्तर है कि किसी भी रूप में नहीं, यहां तक कि—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ चन्द्रालोक १.१२

—कहने वाले जयदेव भी नहीं। प्रथम कारण यह कि अलंकारवादियों द्वारा प्रति-पादित उक्त धारणाएं जयदेव ने कहीं भी प्रस्तुत नहीं कीं—उन्होंने तो ध्वनि और उसके अन्तर्गत रस का निरूपण स्वतंत्र रूप से किया है, इन्हें 'अलंकार' नाम देकर नहीं। दूसरा कारण यह कि मम्मट के काव्यलक्षण **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनल-कृती[2] पुनः क्वापि'** का वास्तविक तात्पर्य जयदेव ने नहीं समझा। 'अनलकृती' से मम्मट का तात्पर्य 'अलंकार का अभाव' नहीं है, अपितु 'अलंकार का स्फुट रूप में न होना' है—**क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।** का० प्र० १.४ वृत्ति। किन्तु जयदेव ने 'अनलंकृती' से 'अलंकार का अभाव' अर्थ समझ कर मम्मट पर व्यर्थ

---

१. **तत्र केषांचित् स्वभावाख्यानादौ अन्तर्भावः, केषांचित् भाविके इति यथायथं विषयानुरोधेन ज्ञातव्यम्।** —का० आ० २.३६७ टीकाभाग

२ **सगुणौ + अनलंकृती = सगुणावनलंकृती।**

का छींटा छोड़ा है, और यमक के लोभ में पड़ कर उक्त श्लोक का निर्माण कर दिया है। अन्यथा जयदेव के समान मम्मट भी जानते थे कि सौ, सवा सौ अलंकारों के लगभग तीन सौ भेदोपभेदों में से कोई न कोई रूप तो प्रत्येक कवित्वपूर्ण पद्य में प्रायः मिल ही जाता है—हाँ, कहीं वह अस्फुट रूप में भी उपलब्ध होगा, पर इस बारीकी को जयदेव ने नहीं समझा। अस्तु ![1]

दूसरा प्रश्न यह कि भामह, दण्डी और उद्भट—इन अलंकारवादी आचार्यों को क्या अलंकार और अलंकार्य का भेद ज्ञात न था ?[2] हमारे विचार में इतना बड़ा 'लाञ्छन' इन पर नहीं लगाया जा सकता। इस सम्बन्ध में निम्नोक्त दो विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(क) यदि 'अलंकार्य' शब्द से तात्पर्य काव्य की विषयवस्तु है—जैसा कि कुन्तक ने स्वभावोक्ति' को अलंकार न मानने के प्रसंग मे संकेत किया है।[3]—तो निस्सन्देह वे इससे सुपरिचित थे। लौकिक विषयवस्तु को वह तभी काव्य की विषय-वस्तु समझते थे, जब वह 'वक्रोक्ति' (अतिशयोक्ति) द्वारा सम्बन्धित हो जाए, अन्यथा नहीं।[4] यह धारणा निस्सन्देह इस तथ्य की परिचायक है कि वे आचार्य 'अलकार्य' के इस तात्पर्य से अवगत थे—यद्यपि इस शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं किया।

(ख) यदि 'अलंकार्य' शब्द से रस अथवा ध्वनि अभिप्रेत है तो निस्सन्देह वे इस तात्पर्य से अवगत नहीं थे—और वह इसलिए कि अभी 'अलंकार्य' का यह अर्थ निश्चित ही नहीं हुआ था, क्योंकि इस शब्द के प्रयोग की आवश्यकता ही परवर्ती ध्वनि एवं रसवादी आचार्यों को पड़ी, जिन्होंने अलंकार का स्वरूप भी रस पर आधारित किया, और अलंकार द्वारा जो उपकृत (अलंकृत) हो उसे 'अलंकार्य'(अर्थात् 'रस') कहा गया, किन्तु, यह इसका लक्ष्यार्थ है, इसका वाच्यार्थ तो विषयवस्तु ही है, जिससे तीनों अलंकारवादी आचार्य भली भाँति परिचित थे। अस्तु ! ० ०

---

१. इधर हिन्दी के आचार्यों में केशवदास को भी अलंकारवादी कहना समुचित नहीं है। वे दण्डी के ग्रन्थ काव्यादर्श के केवल हिन्दी में रूपान्तरकार मात्र हैं, और बस।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रीतिकाल (रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ २३३

३. अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यद् अवतिष्ठते ॥ व० जी० १.११

४. सवैंवाऽतिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम्।
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ॥
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः को ऽलंकारोऽनया विना ॥

—काव्यालंकार (भामह) २.८४,८५

निष्कर्षतः, अलंकारवादियों के मत में—

(क) अलंकार व्यापक अर्थ का द्योतक है, संकुचित अर्थ का नहीं : अर्थात् 'अलकार' काव्यचमत्कारोत्पादक सभी प्रकार के साधनों का वाचक है, केवल अनुप्रास, उपमा आदि का नहीं।

(ख) इस दृष्टि से रस, ध्वनि, गुण, प्रबन्धकाव्य, दृश्यविधान के अंग—ये सभी 'अलंकार' नाम से अभिहित होते हैं।

(ग) और इसी कारण वह काव्य का अनिवार्य साधन है—चाहें तो परवर्ती शब्दावली में कह सकते हैं कि अलंकारवादी आचार्यों को यह स्वीकृत होता कि 'अलंकार काव्य की आत्मा है', यद्यपि उन्होंने इस शब्द का कहीं प्रत्यक्षतः प्रयोग नहीं किया।

२. रीति-सिद्धान्त

रीति-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य वामन है, और वही इसके एक मात्र आचार्य हैं, क्योंकि आगे इस सिद्धान्त का अनुगमन नहीं हुआ। उनके कथनानुसार 'विशिष्ट पदरचना' को रीति कहते हैं,और उसमें यह विशेषता गुणों के कारण आती है : विशेषो गुणात्मा।[1] इसी सूत्र के आधार पर रीति और गुण में अभेद स्वीकार किया जाता है। गुण दो प्रकार के हैं—शब्दगुण और अर्थगुण। इनकी संख्या दस-दस है। यद्यपि इन दोनों प्रकार के गुणों के नाम भी एक से हैं—ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति, तथापि प्रत्येक शब्दगत और अर्थगत गुण के स्वरूप एवं लक्षण में नितान्त अन्तर है।

उक्त गुणों से विशिष्ट 'रीति' को वामन ने काव्य की 'आत्मा' कहा है। इसके इन्होंने तीन भेद माने हैं—वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली। इनमें से वैदर्भी में सभी गुण विद्यमान रहते हैं, गौडीया में दो गुण—ओज और कान्ति, तथा पाञ्चाली में भी दो गुण—माधुर्य और सौकुमार्य। इन रीतियों में ये गुण शब्दगत रहते हैं, अथवा अर्थगत—इस ओर वामन ने यद्यपि कोई संकेत नहीं किया, किन्तु उनके विवेचन से, और विशेषतः इस मौन से, प्रतीत यही होता है कि उन्हें गुणों के दोनों ही रूपों का सद्भाव इन रीतियों में अभीष्ट है। इनमें से उन्होंने वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ माना है। कारण स्पष्ट है कि यह रीति 'समग्रगुणा' होती है। इसी रीति की उन्होंने एक अन्य कोटि भी स्वीकार की है—शुद्धवैदर्भी। यह तभी मानी जाती है जब किसी 'समग्रगुण-परिपूर्ण' रचना में समास का अभाव हो—

साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी। का० सू० १.२.१६

× × ×

अब मूल प्रश्न पर आते हैं कि वामन 'रीति' नामक तत्त्व को किस आधार पर काव्य की आत्मा मानते हैं ? इस समस्या के दो आधार सम्भव हैं—(१) काव्य

१. विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। का० सू० वृ० १.२.७,८

के अन्य उपादानों को अपने अभीष्ट काव्य-तत्त्व में अन्तर्भूत मानना, अथवा (२) उन उपादानों द्वारा इस तत्त्व की पुष्टि मानना। अलंकारवादियों—विशेषतः दण्डी—ने स्पष्ट शब्दों में प्रथम आधार ग्रहण किया था, किन्तु वामन ने स्वयं इस ओर कोई संकेत नहीं किया। फिर भी, यदि 'रीति' को एक स्वतन्त्र काव्य-सिद्धान्त माना गया है तो इसका प्रमुख कारण यही है कि 'रीति' के **अपर पर्याय 'गुण' के बीस भेदों मे अन्य कतिपय शास्त्रीय काव्योपादानों का किसी न किसी रूप में अन्तर्भाव किया जा सकता है।** मम्मट ने इन्हीं बीस गुणों का खण्डन अनेक रूपों में किया है। उनमें से एक रूप यह है कि इनमें से कुछ मम्मट-सम्मत माधुर्य, ओज और प्रसाद मे अन्तर्भूत होते हैं, और कुछ काव्य के अन्य उपादानों में। उदाहरणार्थ—

(१) वामन-सम्मत शब्दगत श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद ये चार गुण मम्मट-सम्मत ओज में अन्तर्भूत होते हैं, और

(२) वामन-सम्मत शब्दगत माधुर्य और अर्थव्यक्ति गुण क्रमशः मम्मट-सम्मत माधुर्य और प्रसाद में।

(३) वामन-सम्मत अर्थगत अर्थव्यक्ति का स्वभावोक्ति अलंकार में अन्तर्भाव हो सकता है, और

(४) अर्थगत कान्ति का रस, ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य में।

यदि इस स्थिति को मम्मट के स्थान पर वामन के दृष्टिकोण से सोचें तो कह सकते हैं कि वामन की 'रीति' से सम्बद्ध गुणों में न केवल परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत माधुर्य, ओज और प्रसाद सम्मिलित हैं, अपितु एक ओर स्वभावोक्ति अलंकार और दूसरी ओर रस के अतिरिक्त ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य भी सम्मिलित हैं। इनमें से गुण और रस के विषय में तो कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि गुण के सम्मिलित न होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, और रस को वामन ने स्पष्ट शब्दों में सम्मिलित किया है—**दीप्तरसत्वं कान्तिः।** शेष रहे तीन उपादान—ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य और स्वभावोक्ति अलंकार। इनमें से प्रथम दो रस के साथ सम्बद्ध होने के कारण स्वीकृत किये गये हैं, अतः ये भी मान्य हैं। हाँ, स्वभावोक्ति को मान्य समझने के सम्बन्ध में पर्याप्त खींचतान करनी पड़ेगी, क्योंकि वामन-सम्मत 'अर्थ-व्यक्ति' और मम्मट-सम्मत 'स्वभावोक्ति' में बहुत निकट का सम्बन्ध नहीं है। अस्तु! यह है प्रथम आधार जिसके बल पर वामन के दृष्टिकोण से रीति को काव्य की 'आत्मा' माना जा सकता है।

अब दूसरे आधार 'काव्य के अन्य उपादानों द्वारा अपने काव्यतत्त्व की पुष्टि' को लीजिए। हमारे विचार में वामन के दृष्टिकोण से रीति को काव्य की आत्मा इस आधार पर नहीं माना जा सकता। कारण यह कि वैदर्भी रीति में सब गुणों [illegible]

और गौडीया तथा पाञ्चाली में दो-दो गुणों की, स्वीकृति का तात्पर्य यही लिया जा सकता है कि इन गुणों के समवाय अथवा समवेत रूप का नाम ही ये रीतियाँ हैं। दूसरे शब्दों में, बीस गुणों के इस रूप का अपर नाम 'वैदर्भी' है, और दो-दो गुणों के इस रूप का नाम गौडीया अथवा पाञ्चाली। इस प्रकार 'रीति' की पुष्टि इन गुणों अथवा इनमें समाविष्ट अन्य काव्य-तत्त्वों से नहीं होती।[1]

× × ×

इस प्रकार प्रथम आधार पर वामन के दृष्टिकोण से रीति को काव्य की आत्मा स्वीकृत कर लेने पर कतिपय प्रश्न उपस्थित होते हैं :

पहला प्रश्न यह कि दण्डी के 'वैदर्भ मार्ग' और वामन की 'वैदर्भी रीति' में क्या कोई अन्तर है ? इसका उत्तर है कि हाँ, महान् अन्तर है। 'दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं'—दण्डी की इस धारणा का तात्पर्य यह है कि जिस रचना में इनमें से किसी एक गुण की (अथवा किन्हीं दो-तीन गुणों की भी) अवस्थिति हो, वहां वैदर्भ मार्ग की स्वीकृत की जाती है। किन्तु इधर वामन-सम्मत वैदर्भी रीति में बीस गुणों का संयोग—चाहे वह समवाय रूप में हो अथवा समवेत रूप में—अनिवार्य है। वामन के 'रीति-सिद्धान्त' का यही सबसे बड़ा दोष एवं शैथिल्य है। प्रथम तो किसी पद्य में बीस गुणों का संयोग अपने आप में एक असम्भव परिकल्पना है। यदि रीति-सिद्धान्त का पक्षपात लेकर इसे सिद्ध करने का आग्रह किया भी जाए, तो इसके लिए निस्सन्देह अवाञ्छनीय एवं हास्यास्पद सी खींचतान करनी पड़ेगी।

दूसरा प्रश्न यह है कि 'अलंकार' के सम्बन्ध में वामन का दृष्टिकोण क्या है ? वस्तुतः वामन पर अलंकारवाद का पर्याप्त प्रभाव है। उन्हें दण्डी आदि के समान 'अलंकार' के दोनों अर्थ अभीष्ट हैं—व्यापक भी और संकुचित भी। पहले व्यापक अर्थ को लीजिए। वामन काव्य को 'अलंकार' के कारण ग्राह्य मानते हैं, और अलंकार से उनका अभिप्राय है काव्य का सभी प्रकार का 'सौन्दर्य'[2]—जिसमें रीति-जनित 'सौन्दर्य' भी निस्सन्देह समाविष्ट हो जाता है। इधर वामन को अलंकार का संकुचित अर्थ—अनुप्रास, उपमा आदि भी—अभीष्ट है। इसके दो प्रमाण हैं। पहला यह कि वह इन प्रख्यात अलंकारों को गुणों में अन्तर्भूत करने का कहीं संकेत नहीं करते, वह इन्हें स्वतन्त्र मानते हैं। दण्डी की भी यही स्थिति है। वह भी इन्हें

---

१. यही कारण है कि आनन्दवर्द्धन ने रीति और गुण में 'अभेद' स्वीकार किया है। अतः ये गुण (उपादान) इन रीतियों के पोषक नहीं हैं। अस्तु !

२. 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्', 'सौन्दर्यमलंकारः' । का० सू० वृ० १.१.१,२
[यहां यह ज्ञातव्य है कि दण्डी ने तो काव्यशोभाकारक धर्म को ही अलंकार कहा था, किन्तु वामन ने उससे भी एक पग और आगे बढ़कर काव्यशोभा (सौन्दर्य) को ही 'अलंकार' कह दिया है।]

गुणों में अन्तर्भूत नहीं करते। दूसरा प्रमाण यह कि वामन अलंकारों को 'गुण' की अपेक्षा निम्न कोटि का स्वीकार करते हैं। इनके कथनानुसार गुण काव्य के शोभा-कारक धर्म हैं तो अलंकार उसी उत्पन्न शोभा के वर्द्धक हेतु है। अत: काव्य में गुण की स्थिति नित्य है और अलंकार की अनित्य।[1] दण्डी का दृष्टिकोण भी लगभग यही है। वह गुण को तो वैदर्भ मार्ग का प्राण मानते हैं, किन्तु उपमा आदि अलंकारों को नहीं।[2]

इस प्रकार वामन अलंकार की इन दोनों ही स्थितियों को स्वीकृत करते हुए भी यदि 'रीति' को काव्य की आत्मा मानते हैं, तो इससे वह अपनी इस प्रमुख मान्यता के बल को कम अवश्य कर लेते हैं। वस्तुत: वामन अलंकारवाद से इतना अधिक प्रभा-वितथे कि वह न तो इस वाद का खण्डन कर सके, न अनुप्रास उपमा आदि अलंकारों को अपनी 'रीति' में अन्तर्भूत कर सके, और न इन्हें 'रीति' के पोषक रूप में ही स्वीकृत कर सके। फिर भी, यदि इन्होंने रीति को 'आत्मा' पद से गौरवान्वित किया, तो केवल इसी आधार पर कि वह अलंकारवादियों की अपेक्षा काव्य के बाह्य रूप को कहीं अधिक चमत्कृत करने के पक्ष में थे। उनके शब्दगुणों की [और अधिकतर अर्थगुणों की भी] परिभाषाओं की तुलना दण्डि-प्रस्तुत गुणों की परिभाषाओं से करने पर इसी तथ्य की पुष्टि हो जाएगी। उनका यह बाह्य रूप चकाचौंध मात्र न होकर स्थायी उज्ज्वलता का द्योतक है। इसका एक प्रमाण यह है कि इन्होंने शब्दगुण के अतिरिक्त अर्थगुण भी माने हैं, और दूसरा प्रमाण यह कि उनकी दृष्टि में ये गुण केवल 'पाठ' अर्थात् शब्द-रचना के धर्ममात्र नहीं हैं, क्योंकि सभी प्रकार की रचनाओं में वे दिखायी नहीं देते—ये तो विशिष्टता की अपेक्षा रखते हैं—

'न पाठधर्माः सर्वत्राऽदृष्टेः।' विशेषापेक्षया। का० सू० वृ० ३.१.२८

निष्कर्षत:, वामन अलंकारवादियों के सिद्धान्तों को अधिकांशत: स्वीकृत करते हुए भी यह मानते थे कि 'रीति काव्य की आत्मा' है। यह उनकी गुणग्राहकता और शिथिलता दोनों का द्योतक है। किन्तु हाँ, अलंकारवादियों की अपेक्षा काव्य के बाह्य पक्ष पर वास्तविक बल देने का तो यह द्योतक है ही।

अस्तु! जो हो, वामन 'गुण' के व्यापक स्वरूप के आधार पर रीति को काव्य की आत्मा मानते थे।

---

१. (क) काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।
(ख) तदतिशयहेतवस्तु अलंकाराः।
(ग) पूर्वे नित्याः। का० सू० वृ० ३.१.१,२,३

२. काव्यादर्श १.४२, २.३

३. ध्वनि-सिद्धान्त

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक[1] आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि' को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा के रूप में घोषित करते हुए कहा कि उनसे पूर्व भी विद्वानों द्वारा यही मान्यता स्वीकृति की गयी थी—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः ।[2] ध्वन्या० १.१

ध्वनि कहते हैं उस प्रतीयमान अथवा व्यंग्य अर्थ को, जिसे अर्थ (वाच्यार्थ) अपने आप को, और शब्द अपनी सत्ता को, अथवा अपने अर्थ (वाच्यार्थ) को गौण बना कर अभिव्यक्त करते हैं—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ ध्वन्या० १.१३

आनन्दवर्धन से पूर्व 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया जा चुका था। अपने मत की पुष्टि के लिए आनन्दवर्द्धन ने प्राचीन शास्त्रीय परिपाटी का अनुकरण करते हुए लक्षणा शब्द-शक्ति के अतिरिक्त[3] इन दोनों तत्त्वों का भी खण्डन किया। पहले अलंकार-तत्त्व को लीजिए। भामह आदि अलंकारवादियों के समर्थकों की ओर से कहा जा सकता है कि 'अलकार' नामक तत्त्व की स्वीकृति किये जाने पर 'ध्वनि' नामक तत्त्व की आवश्यकता ही नहीं है—'तस्याऽभावं जगदुरपरे', क्योंकि भामह-प्रस्तुत प्रतिवस्तूपमा; दण्डि-प्रस्तुत व्यतिरेक; भामह, दण्डी और उद्‌भट द्वारा प्रस्तुत पर्यायोक्ति आदि अलंकारों मे ध्वनि-तत्त्व के स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं। इसी प्रकार अलंकार-व्यग्य को भी 'ध्वनि' न मान कर 'अलंकार' ही माना जा सकता है। आनन्दवर्द्धन ने इनका खण्डन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उक्त प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों में

---

१. यद्यपि ध्वनि-तत्त्व किसी न किसी रूप में आनन्दवर्द्धन से पहले भी विद्यमान था, किन्तु वह अविदित-सदृश था। स्वयं आचार्य का निम्नोक्ति कथन अवलोकनीय है—

विस्मृतिविषयो यः आसीन् मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः ।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम् ॥ ध्वन्या० ३.३४

२. इसी प्रकार—

(क) योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः । ध्वन्या० १.२

(ख) काव्यस्यात्मा स एवार्थः......।

[विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपंचचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः ।]

—वही १.५ तथा वृत्ति

३ ध्वन्यालोक १.१४-१६

व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी उसका कथन प्रधान रूप से नहीं होता उनमें प्रधान चमत्कार तो अलंकार-तत्त्व का ही रहता है। अतः इन्हें 'ध्वनि' न कहकर अलंकार कहना चाहिए।[१] हाँ, व्यंग्यांश-समन्वित इन पर्यायोक्ति आदि अलंकारों का चमत्कार अन्य वाच्यालंकारों—उपमा, रूपक आदि की तुलना में कहीं अधिक बढ़ जाता है।[२] और यदि, कहीं इन अलंकारों के उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो भी, तो उन्हें इन अलंकारों के स्थान पर 'ध्वनि' का ही उदाहरण माना जाएगा।[३] वस्तुतः, ध्वनि अंगी है और अलंकार, गुण और वृत्तियां उसके अंग हैं।[४] निष्कर्ष रूप में अलंकार के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन का मन्तव्य है कि अलंकार उन्हें कहते हैं जो शब्द और अर्थ के आश्रित रह कर कटक, कुण्डल आदि के समान [शब्दार्थ-रूप-शरीर के शोभाजनक] हैं,'[५] और इनकी यह स्थिति बाह्यपरक है। अतः इनके अन्तराल में 'ध्वनि' को—जोकि मूलतः एक आन्तरिक-तत्त्व है—समाविष्ट नहीं माना जा सकता।

'अलंकार' के अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' का भी खण्डन किया। 'रीति' को इन्होंने 'संघटना' नाम देते हुए कहा कि वह गुणों पर आश्रित रह कर रसों को अभिव्यक्त करती है—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्.. ॥ ध्वन्या० ३.६

---

१. अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नाऽसौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥
[यत्र वाच्यस्य व्यंग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः।]
—ध्वन्या० २.२७ तथा वृत्ति

२. (क) शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः॥ —वही २.२८

(ख) वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते॥ —वही ३.३७

३. यत्र तु व्यंग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यंग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः।
—वही, पृष्ठ १६३

४. काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरंगानि अलंकाराः गुणाः वृत्तयश्च।
—वही, पृष्ठ ७४

[विशेष विवरण के लिए देखिए—
(क) ध्वन्यालोक १.१३, २.२७ वृत्तिभाग, (ख) प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ८९-९३]

५. अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।
[वाच्यवाचकलक्षणानि अंगानि] —ध्वन्या० २.६

इसका तात्पर्य यह कि आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में रीति की सिद्धि इसी में है कि वह रस की अभिव्यक्ति में सहयोग दे और यह भी साक्षात् रूप से नहीं, एक पग और पीछे—गुणों के आश्रित रहकर, तथा यह भी उस 'रस' की अभिव्यक्ति में, जो स्वयं ध्वनि पर आश्रित है, उसका एक प्रभेद मात्र है।[1] आनन्दवर्द्धन रीति को केवल घटना (रचना-प्रकार) मात्र मानते हैं। स्वयं वामन भी मूलतः इसे एक बाह्य तत्त्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि आनन्दवर्द्धन ने यदि समास के सद्भाव और असद्भाव को रीति के स्वरूप-निर्देश में स्थान दिया तो यही दिशा वामन ने भी अपनायी थी। स्पष्ट है कि समास-प्रक्रिया बाह्य तत्त्व का ही सूचक है। आनन्दवर्द्धन के इसी दृष्टिकोण का परिपालन उनके अनुयायी परवर्ती आचार्यों द्वारा भी किया गया। परिणामतः, रीति अपने 'आत्मपद' से च्युत होकर विश्वनाथ के शब्दों में 'अंगसंस्थान' मात्र बन कर रह गयी।[2] निष्कर्षतः, आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' को केवल मात्र एक बाह्य तत्त्व स्वीकार करते हुए इसे 'आत्मा' मानने वाले वामन का खण्डन किया है, और उनके सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि वह अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले अर्थात् ध्वनि जैसे आन्तरिक काव्य-तत्त्व की व्याख्या करने में नितान्त असमर्थ थे—

> अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
> अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥ ध्वन्या० ३.४७

× × ×

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-तत्त्व से पूर्ववर्ती उक्त दोनों तत्त्वों का खण्डन उनके प्रति अपनी मान्यताओं के आधार पर किया—'अलंकार' को आभूषक मात्र मानते हुए, तथा 'रीति' को एक संघटना (रचना-प्रकार) मात्र। किन्तु इससे इनके प्रवर्त्तक आचार्यों के प्रति निस्सन्देह यथोचित न्याय नहीं हुआ। वस्तुतः, इनका खण्डन उन्हीं के समान इन दोनों तत्त्वों का व्यापक अर्थ लेकर ही करना चाहिए था, न कि केवल अपनी मान्यतानुसार उनका सीमित अर्थ लेकर। आनन्दवर्द्धन के इस शैथिल्य का, अथवा यों कहिए एक प्रकार की न्यूनता का, आनन्दवर्द्धन की ही ओर से उत्तर भी दिया जा सकता है कि यदि वे पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकार एवं रीति-विषयक व्यापक दृष्टिकोण को ही अपनाते तो भी परिणाम वही निकलता कि ये दोनों तत्त्व मूलतः बाह्यपरक हैं, और इनके इसी बाह्य स्वरूप का ही इन्होंने अपनी मान्यताओं में स्पष्टतः उल्लेख किया है। इधर इसके विपरीत ये स्वसम्मत 'ध्वनि'

---

१. 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' नामक ध्वनि-भेद का दूसरा नाम 'रस' है।

२. पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् × × ॥ सा० द० ९.१

को 'नितान्त आन्तरिक काव्य-तत्त्व' निर्दिष्ट करते हुए इसे काव्य की आत्मा घोषित करते हैं, और वस्तुतः, इसे इस महनीय पद पर आसीन करने के लिए केवल यही एक प्रबल तर्क पर्याप्त है, जिसे इन्होंने अनेक स्थलों पर उद्घोषित किया है—

(क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥ ध्वन्या० १·४

(ख) मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥[1] ध्वन्या० ३.३८

निस्सन्देह यहां प्रतीयमानार्थ (व्यंग्यार्थ, ध्वनि) ही अलंकार और रीति जैसे बाह्य-परक उपादानों की तुलना में 'आत्मा' जैसे आन्तरिक तत्त्व से सम्मानित किये जाने का वास्तविक अधिकारी है । अस्तु !

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन ने काव्य के विविध चमत्कार को ध्वनि पर आधारित मानते हुए अपनी उक्त मान्यता की परिपुष्टि की है । ध्वनि के तारतम्य के अनुरूप इन्होंने काव्य के तीन रूप स्वीकृत किये हैं—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र । ध्वनि के प्रमुख भेद पांच हैं और गुणीभूतव्यंग्य के आठ । फिर, इनके अनेक उपभेद हैं, जो पदांश, पद, वाक्य से लेकर प्रबन्ध-गतता तक फैले हुए हैं । इस तरह इन दोनों काव्य-तत्त्वों के भेदोपभेदों में प्रत्येक प्रकार का काव्य-सौन्दर्य अन्त-र्भूत किया जा सकता है । स्वयं आनन्दवर्द्धन के शब्दों में, इनके सम्पर्क से वाणी अभिनवता और समृद्धि को प्राप्त कर लेती है ।[2] ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' है, जो रस, भाव, रसाभास आदि का पर्याय है ।[3] गुणीभूतव्यंग्य के एक भेद

---

१. (क) जिस प्रकार नारियों का लावण्य उनके [मुख, नेत्र, केश आदि] अवयवों से विभिन्न होता है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणियों में प्रतीयमान अर्थ [वाच्यार्थ से] कुछ और ही होता है ।

(ख) जिस प्रकार [कटक, कुण्डल आदि] आभूषणों से सजी होने पर भी नारियों का मुख्य भूषण लज्जा है, उसी प्रकार [अनुप्रास, उपमा आदि] अलंकारों से युक्त भी महाकवियों की वाणी का मुख्य भूषण व्यंग्यार्थ का संस्पर्श ही है ।

२. ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः ॥ ध्वन्या० ४·६

३. ध्वन्या० २.३

'अपरस्यांग' से अभिप्राय है रसवद् आदि अलंकारों का चमत्कार[1]। इधर 'चित्रकाव्य' के अन्तर्गत माधुर्य आदि गुणों और उससे सम्बद्ध रीतियों के अतिरिक्त सभी अलंकारों का चमत्कार सन्निहित है।[2] इसका तात्पर्य यह कि गुण और अलंकार भी आनन्दवर्द्धन के अनुसार व्यंग्य-रहित नहीं होते, उनमें भी व्यंग्य की सत्ता रहती है, किन्तु अस्फुट रूप से।[3] निष्कर्षतः, आनन्दवर्द्धन के अनुसार सभी प्रकार के काव्य-सौन्दर्य में ध्वनितत्त्व—प्रमुख, गौण अथवा अस्फुट रूपों में से—किसी न किसी रूप में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। इसीलिए भी ध्वनि को 'काव्य की आत्मा' माना गया है।

इस प्रकार इन उपर्युक्त दोनों कारणों के आधार पर आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि काव्य की आत्मा है' यह घोषित करते हुए अन्य काव्यांगों का स्वरूप स्थिर किया, तथा इन्हें ध्वनि से सम्बद्ध करते हुए इनकी वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण किया।

४. वक्रोक्ति-सिद्धान्त

'काव्य की आत्मा' के प्रसंग में अग्रिम उल्लेखनीय काव्य-तत्व है—वक्रोक्ति, जिसे कुन्तक ने काव्य का जीवित (आत्मा) स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थ को इसी मान्यता के आधार पर 'वक्रोक्तिजीवितम्' नाम से अभिहित किया, तथा 'विचित्र' नामक मार्ग के प्रसंग में 'वक्रोक्ति' के वैचित्र्य को 'जीवित' शब्द से संकेतित किया।[4] 'वक्रोक्ति' कहते हैं—वैदग्ध्य-भंगी-भणिति,[5] अर्थात् कविकर्मकौशल से उत्पन्न वैचित्र्य-पूर्ण कथन, को। दूसरे शब्दों में, जो काव्यतत्त्व किसी कथन में लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न कर दे, उसका नाम वक्रोक्ति है।[6] इसका तात्पर्य यह है कि लोक-वार्ता से, यों कहिए लौकिक सामान्य वचन से, विशिष्ट कोई भी कथन 'वक्रोक्ति' के अन्तर्गत आ सकता है।

० ०

---

१. ध्वन्या० २.५, का० प्र० ५ म उ०, पद्य सं० ११६-१२५

२. चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। का० प्र० १.१५

३. अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। का० प्र० १.४

४. विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरन्ति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाऽभिधा॥ व० जी० १.४२

५. वक्रोक्तिरेव यत्र वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते। व० जी० १.१०

६. लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये। व० जी० १.५

कुन्तक से पूर्व 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और 'रीति' तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया चुका था, तथा भरत और आनन्दवर्द्धन द्वारा रस का स्वरूप अधिकांशतः व्यवस्थित हो चुका था। कुन्तक स्वयं इन चारों काव्य-तत्त्वों से पूर्णतया परिचित थे। इनमें से वामन-सम्मत रीति को निस्सार वस्तु समझ कर इन्होंने इस पर विशिष्ट प्रकाश डालना समुचित नहीं समझा।[1] शेष तीन काव्य-तत्त्वों को उन्होंने अपनी मान्यता के अनुसार वक्रोक्ति से सम्बद्ध अथवा इसी में अन्तर्भूत स्वीकृत करते हुए भी कहीं इनका खण्डन नहीं किया। अलकार के प्रति इनका दृष्टिकोण यद्यपि भामह, दण्डी और उद्भट जैसे अलंकारवादियों के समान न होकर अधिकांशतः आनन्दवर्द्धन के समान ही है[2], किन्तु वे उनके द्वारा प्रतिपादित अलंकार के 'व्यापक' अर्थ को भुला नहीं सके—'काव्यता [तो] सालंकार [वचन] की होती है, यह एक तत्त्व है'—तत्त्वं, सालंकारस्य काव्यता (१ ६), और इसी धारणा के वशीभूत होकर ही मानो वे वक्रोक्ति को एक 'अपूर्व अलंकार' की संज्ञा दे रहे हैं : काव्यस्याऽलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते (१.२)। ठीक इसी प्रकार इसी प्रसंग के आसपास ही उन्होंने वक्रोक्ति को 'विचित्रा अभिधा' भी कहा है—विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते (१.१० वृत्ति)। 'विचित्रा' अभिधा से उनका तात्पर्य ध्वनि से ही है।[3] इस प्रकार एक ओर वक्रोक्ति को 'अलंकार' कहना, और दूसरी ओर प्रकारान्तर से 'ध्वनि' कहना, कुन्तक की इन दोनों सिद्धान्तों के प्रति, विशेषतः

---

१. तदलमनेन निस्सारवस्तुपरिमलव्यसनेन।

—हि० व० जी० (पृ० १०१) १.२४ वृत्ति

२. तुलनार्थः 'विचित्र' नामक काव्यमार्ग के स्वरूपनिर्देश के प्रसंग में कुन्तक की निम्नोक्त दो कारिकाएं—

(क) रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्प्यते॥

(ख) यत्र तद्वदलंकारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना।
स्वशोभातिशयान्तःस्थमलंकार्यं प्रकाश्यते॥ व० जी० १.३६, ३७

३. क्योंकि 'वाचक' शब्द से उनका अभिप्राय केवल द्योतक शब्द नहीं है, अपितु उपचार द्वारा व्यंजक शब्द भी है। इसी प्रकार वाच्यार्थ से उनका अभिप्राय द्योत्य अर्थ के अतिरिक्त व्यंग्य अर्थ से भी है—

ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः। तदसंग्रहान्नाऽव्याप्तिः। यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्याद् उपचाराद् तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यंग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्याद् उपचाराद् वाच्यत्वमेव। —व० जी० १.८ वृत्ति

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रति, मान्यता एवं समादर-भावना का सूचक है।[1] शेष रहा चौथा काव्य-तत्त्व—रस, तो इसे उन्होंने मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थ में यत्र-तत्र अनुस्यूत किया है।[2]

इस प्रकार 'रीति' को छोड़ कर शेष तीनों काव्य-तत्त्वों—अलंकार, ध्वनि और रस के प्रति उन्होंने यद्यपि उदार दृष्टिकोण रखा है, किन्तु हैं वे मूलतः 'वक्रोक्तिवादी' ही, और इस मान्यता का एक मात्र कारण पूर्व निर्दिष्ट ही है कि वे लौकिक [एवं शास्त्रीय] कथनों से उच्च भावभूमि पर अवस्थित प्रत्येक उक्ति को 'वक्रोक्ति' नाम से अभिहित करते हैं, और इसी के ही फलस्वरूप इन्होंने इसके अनेक भेदोपभेद करते हुए प्रकारान्तर से सभी काव्य-तत्त्वों को इसी में अन्तर्भूत किया है, जिनका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

उन्होंने वक्रोक्ति के पहले ६ प्रमुख भेद गिनाये हैं—(१) वर्णविन्यास-वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध-वक्रता (मूल शब्द की वक्रता), (३) पदपरार्ध-वक्रता (प्रत्यय आदि की वक्रता), (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध-वक्रता। (व० जी० १.१८-२१)। फिर, इन सबके कुल मिलाकर ४१ उपभेद हैं। ये सभी सौन्दर्य-प्रकार, यों कहिये वक्रोक्तियां, अकेले-अकेले रूप मे भी काव्य-चमत्कार उत्पन्न करती हैं, तथा एक से अधिक रूप में मिल कर भी। दूसरी स्थिति मे काव्य की शोभा कहीं अधिक बढ़ जाती है—

> परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।
> प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहरम्॥ व० जी० २.३४

कुन्तक के मत में इन्हीं भेदोपभेदों के अन्तर्गत काव्य का सभी प्रकार का सौन्दर्य

---

१. अपने ग्रन्थ में उन्होंने अनेक स्थलों पर ध्वनि का स्पष्ट निर्देश किया है। उदाहरणार्थ—

> प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
> वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्॥ व० जी १.४०

उन्होंने उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक आदि अलंकारों के 'प्रतीयमान' नामक भेद स्वीकार किये हैं। इसी प्रकार पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण और उदाहरण में उन्होंने अलंकारवादी आचार्यों के समान इसी में ही व्यंग्यार्थ के समावेश की सूचना प्रकारान्तर से दी है (व० जी० ३.२४ तथा वृत्ति)। इसके अतिरिक्त परिवृत्ति अलंकार को तो उन्होंने अलंकार न मानकर अलंकार्य ही माना है। (व० जी० ३.२३ वृत्ति, तथा भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग २, पृ० ३२४)

२. देखिए व० जी० २.३३, ३५; ३.८, ४६; ४.८, १०, १६, १७, २०, २१

—चाहे वह बाह्य हो अथवा आन्तरिक—समाविष्ट हो जाता है। कतिपय उदाहरण लीजिए—

(क) अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का चमत्कार वर्णविन्यास-वक्रता है।

(ख) उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों का चमत्कार वाक्य-वक्रता है।

(ग) परिकर और इसके सदृश अलंकारों का चमत्कार पर्याय-वक्रता [नामक पदपूर्वार्द्ध-वक्रता] है।

(घ) पदगत ध्वनि का शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूपव्यंग्य नामक भेद पर्याय-वक्रता के अन्तर्गत आ जाता है।

(ङ) लक्षणामूला ध्वनि के दोनों भेदों—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि को रूढिवैचित्र्यवक्रता [नामक पदपूर्वार्द्धवक्रता] के अन्तर्गत माना जा सकता है।

(च) ध्वनि के प्रत्यय, काल, कारक, वचन, उपसर्ग और निपात-गत उपभेद पदपरार्धगत और पदगत वक्रता में अन्तर्भूत हो जाते है।

(छ) वाक्यगत ध्वनि वाक्यवक्रता के समीप है, और

(ज) प्रबन्धगत ध्वनि प्रबन्ध-वक्रता के।

(झ) रुय्यक के कथनानुसार ध्वनि का अधिकतर प्रपञ्च उपचार-वक्रता [नामक पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता] के अन्तर्गत आ जाता है : उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। (अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १०)

इस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति अधिकतर काव्यांगों और काव्य-तत्त्वों को अपने विशाल अन्तराल में समाविष्ट किये है, और इसका आधार है उक्ति की वक्रता, अर्थात् विच्छित्ति। किन्तु इनके विवेचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि 'वक्रोक्ति' केवल बाह्य तत्त्व है अथवा केवल आन्तरिक तत्त्व। कहीं वे इसे [वामन के समान] बाह्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करते प्रतीत होते है—न केवल स्थूल प्रसंगों में, अपितु सूक्ष्म प्रसंगों में भी, और कहीं आनन्दवर्द्धन के समान आन्तरिक रूप में, अन्तर केवल नाम का ही है—आनन्दवर्धन जिसे 'ध्वनि' कहते हैं कुन्तक उसे 'वक्रोक्ति' कह देते हैं। इस प्रकार हमारे सम्मुख वक्रोक्ति के ये दोनों रूप उपस्थित होते है—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य के भी दो रूप हैं (क) स्थूल प्रसंगों को बाह्य मानना, और (ख) सूक्ष्म प्रसंगों का बाह्य मानना।

(क) बाह्य रूप—

जहां तक स्थूल प्रसंगों को बाह्यरूपात्मिका वक्रोक्ति नाम देने का प्रश्न है, निस्सन्देह स्वीकार्य है—शब्दालंकारों को 'वर्णविन्यास-वक्रता' के अन्तर्गत और अर्थालंकारों को 'वाक्यवक्रता' के अन्तर्गत निरूपित करना कुन्तक की दृष्टि से [illegible]

संगत है, किन्तु सूक्ष्म प्रसंगों को बाह्यरूपात्मिका वक्रोक्ति नाम देना अत्यन्त असंगत और कभी-कभी तो हास्यास्पद सा प्रतीत होता है। उदाहरण लीजिए—

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।

—ध्वन्या० पृष्ठ ६६, व० जी० पृष्ठ १६७

इस पद में 'राम' शब्द का गृहीत अर्थ आनन्दवर्द्धन और कुन्तक दोनों को एक ही अभीष्ट है—सकल-दुःख-सहिष्णु। आनन्दवर्द्धन ने इसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि का उदाहरण माना है, किन्तु कुन्तक ने पदपूर्वार्द्ध-वक्रता का, क्योंकि 'रामः' पद के पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रातिपदिक 'राम' के ही कारण काव्य-चमत्कार है, इसके प्रत्यय (सु=ः) के कारण नहीं। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य—

तदा जायन्ते गुणा: यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥[1]

—ध्वन्या० २.१ वृत्ति, व० जी० २.६ (वृत्ति)

—में दूसरे 'कमलानि' पद का गृहीत अर्थ है—सौन्दय आदि विशेष गुणों से युक्त, और यही अर्थ आनन्दवर्धन और कुन्तक दोनों को अभीष्ट है। किन्तु आनन्दवर्धन यहाँ अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनि मानते हैं, और कुन्तक पदपूर्वार्द्ध-वक्रता।

अब एक अन्य प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत है—

समविषमनिर्विशेषा: समन्ततो मन्दमन्दसंचारा:।
अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्या:॥[2]

—ध्वन्या० ३.१६ (वृत्ति), व० जी० २.६५ (पद्य)

आनन्दवर्धन कहते हैं कि यहाँ काल-व्यंजक असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य [विप्रलम्भ शृंगार] है, किन्तु कुन्तक कहते हैं कि यहाँ 'भविष्यन्ति' के 'स्य' प्रत्यय के कारण वक्रोक्ति (काव्य-चमत्कार) है, अत: यहाँ प्रत्यय-वक्रता है।

इन और इस प्रकार के अन्य उदाहरणों और उनके समन्वय से प्रतीत होता है कि कुन्तक की वक्रोक्ति बाह्यात्मिका है, और इसी आधार पर उन्होंने 'रूपक-व्यंग्य', 'उत्प्रेक्षा-व्यंग्य' और 'व्यतिरेक-व्यंग्य' के उदाहरणों को भी क्रमश: रूपक, उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक नामक [वाच्य] अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत करके विषय को अव्यवस्थित सा कर दिया है—

---

१. अर्थात्, जब सहृदयों द्वारा गुणग्रहण किये जाते हैं तभी वे गुण होते हैं। जैसे सूर्य की किरणों से अनुगृहीत होने पर ही कमल 'कमल' होते हैं।

२. वर्षा-कालके कारण मार्ग तुरन्त अगम्य 'हो जाएंगे'—बेचारे विरही जन भविष्य की कल्पना करते हुए अभी से व्यथित हो उठे हैं।

'हे चञ्चल और दीर्घ नेत्रवाली प्रिये ! तुम्हारे कान्ति-समुज्ज्वल मुख के मन्द-मुस्कान से युक्त होने पर भी इस समुद्र में तनिक भी चञ्चलता दिखायी नहीं देती, प्रतीत होता है कि यह निरा जलसमूह मात्र ही है ।'[1] इस पद्यार्थ से अभिप्रेत यह है कि 'मुख चन्द्रमा है ।' आनन्दवर्द्धन को यहां रूपक अलंकार व्यंग्य[2] रूप में मानना अभीष्ट है, किन्तु कुन्तक उन्हीं के प्रभाव-स्वरूप इसे 'प्रतीयमान रूपक' का उदाहरण मानते हुए भी रूपक के अन्य वाच्यगत उदाहरणों के समान 'वाक्यवक्रता' का ही चमत्कार कहते हैं । इसी प्रकार—

चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूच्छितः ।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ।।[3]

—ध्वन्या० २.२७ वृत्ति, व०जी० ३.६५ (पद्य)

इस पद्य में आनन्दवर्धन ने 'उत्प्रेक्षा-ध्वनि' स्वीकार की है, और कुन्तक ने इसे उत्प्रेक्षा का ही एक भेद मानते हुए इसे 'वाक्यवक्रता' के अन्तर्गत रखा है। यहाँ 'व्यंग्यार्थता' अथवा 'वक्रता' यह है कि यद्यपि वसन्त ऋतु में मलयानिल के स्पर्श द्वारा विरहीजनों का मूच्छित हो जाना वर्णित किया जाता है, किन्तु यहां उत्प्रेक्षा यह की गयी है कि मानो मलयानिल इसी कारण विरहीजनों को मूच्छित कर रहा है कि यह स्वयं सर्पों की फुंकार से मूच्छित (प्रवृद्ध) है ।

(ख) आन्तरिक रूप—

उक्त सभी स्थूल एवं सूक्ष्म—यों कहिए क्रमशः संगत एवं असंगत—प्रसंगों को देखने से किसी भी पाठक को आपाततः यही प्रतीत होने लगता है कि कुन्तक की वक्रोक्ति बाह्य-रूपात्मिका ही है, किन्तु कहीं वे आनन्दवर्द्धन-प्रस्तुत ध्वनि के उदाहरणों को, जो निस्सन्देह आन्तरिक तत्त्व को ही प्रस्तुत करते हैं, यथावत् स्वीकार करते हुए भी 'ध्वनि' के स्थान पर 'वक्रता' शब्द का प्रयोग कर देते हैं—

---

१. लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे सरसायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ।।

—ध्वन्या० २.२७ (वृत्ति) व० जी० ३.७९ (पद्य)

२. अलंकारगत-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-विवक्षितान्यपरवाच्य-(लक्षणामूला-)ध्वनि ।

३. अर्थात्, चन्दनवृक्ष में लिपटे हुए सांपों की निश्वास-वायु से मूच्छित (प्रवृद्ध) यह वसन्त ऋतु में पथिकों को मूच्छित करती है

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुननि च वनानि।
निरंहकारमृगांका हरन्ति नीला अपि निशाः[1] ॥ व०जी० २:१३ (वृत्ति

यहाँ मेघों को 'मत्त' कहने से तात्पर्य है कि वे अति सघन होकर उमड़-घुमड रहे हैं, और चन्द्रमा को 'निरहंकार' कहने से तात्पर्य है कि उसका प्रकाश क्षीण पड़ गया है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार दोनों पदों में अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्यध्वनि का चमत्कार है और कुन्तक के अनुसार 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' के 'उपचारवक्रता' नामक एक उपभेद का। निस्सन्देह यहाँ 'मत्त' और 'निहंकार' शब्दों का आन्तरिक चमत्कार ही दोनों आचार्यों को अभीष्ट है, न कि इसका मुख्यार्थ, किन्तु एक आचार्य इसे 'ध्वनि' कहते हैं, और दूसरे आचार्य वक्रता। इसी प्रकार—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥

—ध्वन्या० ३.१६ (वृत्ति) व० जी० २.१०६ (पद्य)

इस पद्य में 'और' (च) नामक निपात [अर्थात् अव्यय[3]] द्वारा समुत्पन्न काव्य-चमत्कार के कारण आनन्दवर्धन ने 'निपातगत-ध्वनि'[4] स्वीकार की है, और कुन्तक ने 'निपातगत-पदवक्रता'। निस्सन्देह दोनों आचार्यों को अभीष्ट तो 'निपात' का चमत्कार है, जो कि स्वयं आन्तरिक है। आनन्दवर्धन इसी चमत्कार को 'ध्वनि' कहते हैं और कुन्तक 'वक्रता'। उक्त दोनों उदाहरणों में आनन्दवर्धन की 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य-ध्वनि' और 'निपात-ध्वनि' निस्सन्देह आन्तरिक हैं, पर कुन्तक की 'उपचारवक्रता' और 'निपातवक्रता' आन्तरिक होती हुई भी क्रमशः पदपूर्वार्द्ध वक्रता और पदवक्रता के ही उपभेद हैं, जोकि स्वतः बाह्यापरकता की सूचक हैं।

---

१. अर्थात्, यह अन्धेरी रात्रियाँ जिनमें आकाश पर मत्त मेघ छाये हैं और चन्द्रमा निरहंकार (गर्वरहित) हो गया है × × × × मन को हरण कर लेती है।

२. अर्थात्, उधर प्रियतमा का दुःसह वियोग और इधर नये-नये बादलों के उमड़ आने पर धूप रहित दिन—ये दोनों एक-साथ आ पड़े हैं।

३. 'निपातमव्ययः'। (अष्टाध्यायी)

४. निपातगत-असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-विवक्षितान्यपरवाच्य-(लक्षणामूला)-ध्वनि।
इसी प्रकार—

मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाऽभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न तु चुम्बितम् ॥

—ध्वन्या० ३.१६ वृत्ति, व०जी० २.२३ (पद्य)

यहाँ 'तु' निपात से पश्चाताप व्यञ्जित होता है। आनन्दवर्द्धन यहाँ 'निपात-ध्वनि' स्वीकृत करते हैं और कुन्तक 'निपात-वक्रता'।

इस प्रकार हमने देखा कि जिस प्रकार 'ध्वनि' के सम्बन्ध में दृढतापूर्वक यह कहा जा सकता है कि वह अपने आप में अनिवार्यत: और सम्पूर्णत: एक आन्तरिक तत्त्व है, अलंकार, रीति आदि बाह्यपरक तत्त्व इसी के परिपोषक रूप में ही स्वीकृत हैं, उसी प्रकार वक्रोक्ति के सम्बन्ध में दृढतापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह केवल बाह्य अथवा केवल आन्तरिक तत्त्व है।

वक्रोक्ति के उपभेदों पर एक सरसरी-सी दृष्टि डाल देने से भी इस कथन की पुष्टि हो जाएगी, उदाहरणार्थ—पदपूर्वार्द्ध वक्रता के ११ उपभेदों में से रूढि-वैचित्र्यवक्रता और उपचारवक्रता तो आन्तरिक तत्त्व के सूचक है, और शेष ९ उप-भेद बाह्य तत्त्व के। किन्तु फिर भी, यदि समग्र रूप मे वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे इस दृष्टि से विचार करें तो स्पष्टत: ज्ञात होता है कि उसके बाह्य पक्ष का पलडा उसके आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक भारी है। किन्तु ऐसा मानते हुए भी यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि 'वक्रोक्ति-तत्त्व' की यह बाह्यपरकता भामह आदि के 'अलंकार-तत्त्व' और वामन के 'रीति-तत्त्व' इन दोनों की अपेक्षा अनेक रूपों से निराली है। कुन्तक का दृष्टिकोण इन आचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। वक्रोक्ति के ४१ उपभेद, इन उपभेदों में प्राय: सभी स्वीकृत काव्य-तत्त्वों की समाहिति, अलंकार के प्रति कुन्तक का दोहरा दृष्टिकोण, रस के प्रति उनका आग्रहपूर्ण, समादर, और ध्वनि तथा इसके भेदोपभेदों की प्रकारान्तर से स्वीकृति—ये सभी तथ्य इस वास्तविकता के सूचक हैं कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त की यह बाह्य-परकता अलंकार-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त की बाह्यपरकता की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है, और कुन्तक द्वारा यही व्यापक एवं विशिष्ट बाह्यरूपात्मिका 'वक्रोक्ति' काव्य की आत्मा के रूप में घोषित की गयी थी।

५. रस-सिद्धान्त

काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में जितना समादर रस को मिला उतना किसी अन्य काव्य-तत्त्व को नहीं। भरत को रस-तत्त्व का प्रवर्त्तक समझा जाता है। उन्होंने इसे नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया,[1] तथा कतिपय काव्य-तत्त्वों—अलंकार, गुण, दोष—के रस-संश्रयत्व पर भी उन्होने प्रकाश डाला।[2]

---

१. (क) एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ ना०शा० १.११०

(ख) बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥ वही, १७.१२३

२ एवमेते ह्यलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिता।
प्रयोममेषां च पुन वक्ष्यामि । वही १७ १०८

अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी और उद्भट ने यद्यपि रस, भाव आदि को रसवद् आदि अलंकार नाम से अभिहित किया, तथापि उन्होंने अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया। भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए 'एक आवश्यक तत्त्व' के रूप में स्वीकृत किया।[1] भामह के अनुसार कटु औषधि के समान कोई शास्त्र-चर्चा भी रस के संयोग से मधुवत् बन जाती है।[2] दण्डी का माधुर्य गुण 'रसवत्' ही है, तथा यह रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देनी है।[3] दण्डी के 'माधुर्य' गुण का एक भेद वस्तुगत माधुर्य कहाता है, जिसका अपर नाम 'अग्राम्यता' है। दण्डी के शब्दों में यही अग्राम्यता काव्य में रस-सेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार है।[4] इसके अतिरिक्त रुद्रट ने भी, जो एक ओर अलंकार-सिद्धान्त से और दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित थे, रस को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना।[5] प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी, पांचाली नामक रीतियों और मधुरा, ललिता वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग का निर्देश किया,[6] शृंगार रस का प्राधान्य स्वीकार किया,[7] तथा कवि को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया।[8]

अलंकारवादी आचार्यों के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा रस को ध्वनि का एक भेद—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि नाम से स्वीकृत करते हुए भी रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप घोषित किया। कतिपय प्रमाण लीजिए :

---

१. (क) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। का० अ० १.२१

(ख) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्॥ का० आ० १.१८

२. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्। का० अ० ५.३

३. मधुरं रसवद् वाचि, वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता का० आ० १.५१

४. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ का० आ० १.६२

५. काव्यालंकार १६.१,५

६,७ काव्यालंकार १४.३७; १४.३८

८. तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां [illegible] हि स्याद् ॥ का० अ० १२ २

—वाच्यार्थों की बहुविध रचना रस के आश्रय से सुशोभित होती है ।[1]

—यों तो व्यंग्यार्थ (ध्वनि) के कई भेद हैं, किन्तु रस, भाव आदि [नामक भेद] उनकी अपेक्षा कहीं [अधिक] प्रधान हैं ।[2]

—रस के सम्पर्क से प्रचलित अर्थ उस प्रकार नूतन रूप में आभासित होने लगते हैं जिस प्रकार वसन्त के सम्पर्क से द्रुम ।[3]

—रस, भाव आदि के विषय से सम्बद्ध रहकर ही वाच्य और वाचक की औचित्यपूर्वक [योजना होती है, और ऐसी] योजना करना महाकवि का मुख्य कर्म है ।[4]

—इस व्यंग्य-व्यंजक भाव (अर्थात् ध्वनितत्त्व) के अनेक भेदों के होने पर भी कवि को केवल रसादिमय ध्वनि-काव्य में ही अवधानवान् रहना चाहिए ।[5]

इसी प्रकार आनन्दवर्द्धन के प्रख्यात अनुकर्ता मम्मट ने भी रस को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन निर्दिष्ट किया ।[6]

आनन्दवर्द्धन के उपरान्त वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' स्वीकार करते हुए भी रस को काव्य का अमृत एवं अन्तश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य-प्रयोजन के रूप में घोषित किया ।[7] उन्होंने उपसर्गगत और निपातगत पदवक्रता के प्रसंग में रस की चर्चा की,[8]

---

१. अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात् ।। ध्वन्या० ४.८

२. प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपेक्षणं प्राधान्यात् ।
—ध्वन्या० १.५ वृत्ति

३. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ।। ध्वन्या० ४.४

४. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ।। ध्वन्या० ३.३२

५. व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ।। ध्वन्या० ४.५

६. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम् ।—काव्यप्रकाश १ म उ०

७. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनाऽन्तश्चमत्कारो वितन्यते ।। व० जी० १.५

८. रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः ।
वाक्यैकजीवितत्वेन साऽपरा पदवक्रता ।। व० जी० २.३३

प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता के लिए रस की अनिवार्यता का अनेक रूपों में निर्देश किया,[1] और रसवत् अलकार को 'सब अलंकारों का जीवित' कहते हुए प्रकारान्तर से रस की उत्कृष्टता मुक्तकण्ठ से स्वीकृत की।[2]

कुन्तक के उपरान्त इस दिशा में अग्निपुराणकार ने काव्य में रस की अनिवार्यता का संकेत करते हुए कहा कि जिस प्रकार लक्ष्मी त्याग (दान) के बिना शोभित नही होती, उसी प्रकार वाणी भी रस के बिना शोभित नहीं होती।[3]

रस के प्रति उक्त समादर-भाव अग्निपुराणकार के समय के आस-पास और अधिक उच्च रूप ग्रहण कर गया। अब रस को 'आत्मा' पद पर आसीन कर दिया गया—**वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्।** अर्थात्, काव्य मे यद्यपि वाणी की विदग्धता की प्रधानता (अनिवार्यता) रहती है, किन्तु उसका जीवित (आत्मा) तो रस ही है। इसी प्रकार महिमभट्ट ने भी रस को सर्वसम्मति से काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का निर्देश किया—**काव्यस्यात्मनि संगिनि × × × रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।**[4]

इधर इसी बीच 'काव्यपुरुष-रूपक' भी पूर्णत: स्थिर हो चुका था—जिसके बीज दण्डी और वामन के समय से मिलना प्रारम्भ हो गये थे।[5] राजशेखर और उनके उपरान्त विश्वनाथ ने इसी रूपक के अन्तर्गत काव्य को आत्मा रूप में घोषित किया,[6] और विश्वनाथ ने तो सर्वप्रथम अपना काव्यलक्षण ही इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।**[7] ० ०

---

१. व० जी० ४. ४, ८, १०, १६, २१

२. **यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।**
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते॥ व० जी० ३.१४

३. **लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा।** अ० पु० ३३९.९

४. साहित्यदर्पण (प्रथम परिच्छेद) से उद्धृत।

५. दण्डी ने 'काव्य-शरीर' और 'प्राण' शब्द का प्रयोग किया था तो वामन ने 'आत्मा' का। देखिए पृष्ठ ११५

६. देखिये पृष्ठ ११५

७. विश्वनाथ से पूर्व मम्मट ने भी गुण के लक्षण के प्रसंग में रस को काव्य की आत्मा मानने का संकेत—रूपक का आश्रय लेते हुए प्रकारान्तर से सही—किया अवश्य था देखिए पृष्ठ १४०, पा० टि० २ (क)

किसी काव्य-तत्त्व को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने के दो आधार पीछे निर्देश किया जा चुका है। पहला आधार है उसी काव्यतत्त्व में काव्य के तत्त्वों का समावेश एवं अन्तर्भाव समझना, और दूसरा आधार है अन्य काव्य द्वारा इसी तत्त्व की पुष्टि समझना।[1] निस्सन्देह दूसरा आधार अधिक मान्य है, व यह अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट, स्वस्थ, आग्रह-रहित एवं तर्कपूर्ण है। रस को का० आत्मा स्वीकृत करने का एक कारण यह भी है कि आनन्दवर्द्धन और उनके कर्ताओं—मम्मट और विश्वनाथ ने, तथा इनके परवर्ती संग्रहकर्ता आचार्यों ने, काव्यतत्त्वों—अलंकार, गुण और रीति—को रस के साथ सम्बद्ध करते हुए उसके पोषक रूप में प्रस्तुत किया। इन्होंने इन तीनों का लक्षण तो रस के आ पर स्थिर किया ही, दोष का लक्षण भी 'रस' के अपकर्ष पर स्थिर किया—दोष रस का अपकर्षक है वही वह दोष है, अन्यथा नहीं है।[2]

---

१. देखिए पृष्ठ १२१-१२२

२. इन चारों काव्य-तत्त्वों के लक्षण लीजिए :

अलंकार—

(क) अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ध्वन्या० २.६

(ख) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ का० प्र० ८,६७

(ग) शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तो ऽलकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ सा० द० १०.१

गुण—

(क) तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः । ध्वन्या० २.६

(ख) ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ का० प्र० ८.६६

(ग) रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।
गुणाः·································· ॥ सा० द० ८.१

रीति—

पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनाम्··············· ॥ सा० द० ९.१

दोष—

(क) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः । का० प्र० ७.१

(ख) रसापकर्षकास्दोषाः । सा० द० ७.१

इस प्रकार हमने देखा कि (१) पहले रस के प्रति समादर-भाव प्रकट किया गया, (२) पुनः रस के साथ अन्य काव्यतत्त्वों का स्वरूप सम्बद्ध किया गया, और (३) अन्ततः उसे 'आत्मा' रूप में उद्‌घोषित कर दिया गया—और इस सबका एक मात्र कारण यह है कि रस अन्य काव्य-तत्त्वों की अपेक्षा कहीं अधिक आन्तरिक तत्त्व है—यहाँ तक कि वह 'ध्वनि' के प्रमुख पाँच भेदों में से शेष चार भेदों की अपेक्षा भी आन्तरिक है।

उपसंहार

इस प्रकार 'काव्यात्मा' के प्रसंग में उक्त पांच सिद्धान्तों[1] के एतद्‌विषयक पर्यवेक्षण के उपरान्त काव्य की आत्मा किसे माना जाए—इसके निर्णय का मार्ग सुगम हो जाता है। 'चैतन्यमात्मा' तथा 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' इस आधार पर काव्य के प्रसंग में 'आत्मा' शब्द का तात्पर्य है—काव्य का अनिवार्य सार अथवा तत्त्व, तथा वह तत्त्व बाह्य न होकर आन्तरिक होना चाहिए। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति तत्त्व बाह्य ही है।[2] शेष रहे दो काव्य-तत्त्व—ध्वनि और रस। हमारे विचार में ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना चाहिए। इस स्वीकृति के अनेक कारण हैं :

—प्रथम कारण यह है कि यह तत्त्व काव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। यहाँ तक कि रस के उदाहरणों में भी इसी तत्त्व का अस्तित्व अनिवार्यतः अपेक्षित है। रस का चमत्कार व्यंग्यार्थ पर आधारित रहता है—रस वस्तुतः ध्वनि का ही एक भेद माना जाता है। ध्वनि-तत्त्व के अभाव में किसी भी कथन को 'काव्य' नहीं कह सकते, वह या तो 'लोक-वार्ता' कहा जाएगा या 'शास्त्र-कथन'।

—दूसरा कारण यह है कि ध्वनि-तत्त्व रस की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। ध्वनि-तत्त्व के तारतम्य के आधार पर काव्य को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य। इन तीनों श्रेणियों में ध्वनि-तत्त्व क्रमशः मुख्य, गौण और अस्फुट रूप में विद्यमान रहता है। ध्वनि-काव्य

---

१. काव्यात्मा के प्रसंग में 'औचित्य-सिद्धान्त' की चर्चा भी की जाती है। किन्तु औचित्य-तत्त्व वस्तुतः कोई अलग सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय न होकर गुण, अलंकार रस, आदि विभिन्न काव्यांगों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतु मात्र ही है। औचित्य के प्रतिपादक क्षेमेन्द्र ने यद्यपि औचित्य को काव्य का 'जीवित' कहा है, किन्तु यहाँ 'जीवित' शब्द आत्मा का पर्याय नहीं है, अपितु इसका तात्पर्य है किसी काव्यांग को उपादेय बनाने का हेतु। अतः काव्य की आत्मा के प्रसंग में यह तत्त्व विचारणीय नहीं है।

२. वे कितनी सीमा तक बाह्य हैं, यह विषय प्रस्तुत प्रसंग से सम्बद्ध नहीं है।

के प्रमुख पाँच भेदों में से 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' नामक ध्वनि-भेद का अपर न
रसादि (अंगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव-सन्धि, भावश
और भावशान्ति) है। इस प्रकार अंगीभूत रस आदि का अन्तर्भाव ध्वनि में हो
है। गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के आठ भेदों में से 'अपराग' नामक दूसरे भेद के अ
रसवद्, प्रेयस्वद् आदि अलंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है, जो वस्तुतः उस
में स्वीकृत किये जाते है जब रस, भाव आदि अंगभूत रूप में वर्णित हों। इस
रस चाहे अंगीभूत रूप में, वर्णित हो अथवा अंग रूप में काव्य-श्रेणी के दृष्टि से
से ही सम्बन्धित है। शेष रहे ध्वनि के [रसेतर] शेष चार भेद, और गुण
व्यंग्य के शेष सात भेद—ये सभी तो ध्वनि से सम्बन्धित है ही।

अब काव्य के तीसरे प्रमुख-भेद चित्रकाव्य को लीजिए। चित्रकाव्य से त
है—अलंकार-प्रयोग, किन्तु इसमे भी ध्वनि-तत्त्व की सत्ता, चाहे वह अस्फुट र
ही क्यों न हो, नितान्त अनिवार्य है, और इसी चित्रकाव्य के अन्तर्गत सभी श
लंकारों और अर्थालंकारों का काव्य-चमत्कार निहित हो जाता है। शेष रहे
और रीति नामक काव्य-तत्त्व, तो ये दोनों क्रमशः साक्षात् तथा प्रकारान्तर से
ध्वनि मे सम्बद्ध रहने के कारण ध्वनि से ही सम्बद्ध हैं। इसके अतिरिक्त इन द
का वाह्य चमत्कार 'चित्र-काव्य' कहाता है। यह चमत्कार भी वस्तुतः रस-ध्वनि
ही उपकारक होता है। इस प्रकार ध्वनि-तत्त्व में सभी प्रकार का काव्य-चमत्
अन्तर्भूत हो जाता है, अतः वह एक व्यापक काव्य-तत्त्व है।

इस प्रकार उक्त दोनों कारणों से ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मान
चाहिए।

किन्तु समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता। रस को काव्य की आत
स्वीकार करने वालों की ओर से यह कहा जा सकता है कि रस (रसादि) के उदाह
और 'अपरस्यांग' नामक गुणीभूतव्यंग्य काव्य के उदाहरण तो रस हैं ही, ध्व
काव्य के शेष चार भेदों, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के शेष सात भेदों के उदाहरण
वस्तुतः रस ही हैं, और यही स्थिति चित्रकाव्य की भी है, क्योंकि इनका चमत्का
भी किसी न किसी रूप में रस से सम्बद्ध रहता है। उदाहरणार्थ, वस्तु-ध्वनि
प्रसिद्ध उदाहरण 'गतोऽस्तमर्कः' (अर्थात् 'सूर्य डूब गया') तभी काव्य के अन्तर्
माना जाएगा जब वक्ता का अभिप्राय केवल इतना मात्र न हो कि अब 'अनध्याय
का समय हो गया', अथवा 'कार्य समाप्त करने का समय हो गया' आदि, अपितु
उसकी आन्तरिक मनोभावनाओं का भी परिचायक हो। उदाहरणार्थ, 'कार्य समाप्त
हो गया' इस व्यंग्यार्थ को तभी काव्य का विषय माना जाएगा, जब वक्ता को अ
प्रियजनों से मिलने की उत्सुकता हो, अथवा उसकी किसी ऐसी अन्य मनो
भावना एवं मनोलालसा का पता चले। इस प्रकार ऐसे उदाहरणों में भी वस्तु

रस की ही सत्ता विद्यमान रहती है। अतः रस को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए, ध्वनि को नहीं। उपर्युक्त तर्क के उत्तर में इतना कहना पर्याप्त है कि यह ठीक है कि काव्यत्व की स्वीकृति वहां होगी जहां किसी अनुभूति का द्योतन हो, किन्तु इसी आधार पर ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य अथवा चित्र-काव्य के सभी भेदों के उदाहरणों को शृंगार आदि रसों के साथ सम्बद्ध करना समुचित नहीं है, और इसी प्रकार काव्य में वर्णित हर प्रकार की अनुभूति को भी भावपरक स्वीकृत करके उसे रसादि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि आठों अथवा रसवद्, प्रेयस्वत् आदि सातों) के साथ सम्बद्ध नहीं करना चाहिए। इसके दो कारण है—

पहला यह कि ध्वनि जैसा आन्तरिक तत्त्व भी तो किसी अनुभूति एवं मनोवृत्ति का द्योतक है। इसे इस दृष्टि से सक्षम न मानकर केवल रस को ही, जोकि वस्तुतः ध्वनि का ही एक प्रभाग है, ऐसा मानना शास्त्र-संगत नहीं है।

दूसरा कारण यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से रस अपने पारिभाषिक अर्थ में सब प्रकार के काव्य-तत्त्वों से प्राप्त 'काव्यचमत्कार' अथवा 'काव्यानन्द' का वाचक नहीं है, अपितु वह विशिष्ट प्रकार के आनन्द का, स्थायिभाव के साथ विभावादि के संयोग से जन्य आनन्द का, वाचक है। जिस काव्य मे विभावादि तीनों परिपक्व रूप में वर्णित रहते हैं, अथवा विभावादि में से किसी एक अथवा दो के परिपक्व रूप मे वर्णित रहने के कारण शेष दो अथवा एक के स्वतःगृहीत हो जाने पर तीनों परिपक्व रूप मे वर्णित समझ लिये जाते हैं, वही रस अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनि की स्थिति समझी जाती है, और रस नामक काव्य-तत्त्व से उत्पन्न काव्यास्वाद भी इन्हीं स्थलों में स्वीकार किया जाता है। यों चाहें तो रस का व्यापक अर्थ—सब प्रकार का काव्यचमत्कार, स्पष्ट शब्दों में कहें तो सभी प्रकार के काव्य-तत्त्वों से उत्पन्न काव्य-चमत्कार, भी ले सकते हैं, किन्तु यह उसका लक्ष्यार्थ ही है, वाच्यार्थ नहीं है, और शास्त्रीय चर्चाओं में वाच्यार्थ के ही बल पर सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने चाहिएं, लक्ष्यार्थ अथवा उपचार के बल पर नहीं। इस दृष्टि से रस अपनी सीमा में परिबद्ध है, वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

यहां एक शंका प्रस्तुत की जा सकती है कि काव्य में वर्णित ऐसा कौन सा स्थल है जो विभावादि से—विशेषतः आलम्बनविभाव से—शून्य हो, और न सही तो विषय एवं आश्रय का सद्भाव ही सर्वत्र मानना चाहिए। इस तथ्य को निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया गया है—काव्य में वर्णित ऐसी कोई विषय-वस्तु नहीं है, जो किसी चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करती हो, और यही चित्तवृत्तियां ही तो रसादि हैं—न हि तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति, चित्तवृत्तिविशेषा हि [illegible]।

किन्तु चित्तवृत्तियों को रसादि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास) आदि कहना लाक्षणिक प्रयोग है। किसी मनोभाव का केवल उल्लेख अथवा वर्णन मात्र तब तक रस नहीं कहाता जब तक कि वह विभावादि के सांचे में ढाला हुआ न हो। किसी भी रस के उदाहरण में शास्त्रीय दृष्टि से, जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, विभावादि की, अथवा उनमें किसी एक अथवा दो की, अभिव्यक्ति परिपक्व रूप नें ही विद्यमान रहनी चाहिए। अपरिपक्व स्थिति में इस प्रकार के काव्यस्थल 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति'—इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार रसादि (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि) के उदाहरण न माने जाकर ध्वनि के उक्त शेष चार भेदों में से किसी न किसी के उदाहरण माने जाएंगे। एक उदाहरण लीजिए :

एक तारा टूट कर क्या कह गया ?

इस कथन में व्यंग्यार्थ यह है कि कोटि-कोटि नक्षत्रों से भरे आकाश के समान कोटि-कोटि मानवों से भरे इस जगत् में टूटते हुए एक तारे के समान एक व्यक्ति की मृत्यु से कुछ क्षणों का ही विषाद होना है, इससे अन्ततः कुछ अन्तर नही पड़ता—संसार चलता रहता है। इस कथन में विभावादि में से केवल आलम्बन-विभाव (तारा और कवि) के विद्यमान होने पर भी शेष दो तत्त्वों की स्वत: प्रतीति नही होती, क्योंकि आलम्बन-विभाव परिपक्व रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ। अत. इसे किसी रस का अथवा भावोदय का उदाहरण न मान कर वस्तुध्वनि का उदाहरण मानेंगे। दो ताज़े उदाहरण 'नई कविता' से और लीजिए—

फुटपाथ पर खड़ा-खड़ा सुलगता रहता है

एक सिगरेट,
धुँआ छोड़ता हुआ।

कुण्ठा, तमन्नाओं को पूरा करने की अभिलाषा, घुटन और बेबसी को व्यञ्जित करती हैं ये पंक्तियां। यह अभिव्यक्ति शास्त्रीय शब्दावली में 'वस्तुध्वनि' है। इसी प्रकार—

एक अदृश्य टाइप-राइटर पर
साफ़-सुथरे कागज़ सा चढ़ता हुआ दिन।

घटना-हीन दिन का प्रारम्भ हुआ, पर यह सारा दिन यों रीता थोड़े बी जाएगा, कुछ तो घटनाएँ घटेंगी ही—यह भी वस्तुध्वनि है। इसे उक्त शास्त्री मर्यादा के अनुसार रस का उदाहरण नही मान सकते, क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि रे रस (रसध्वनि) अपनी मर्यादा में परिबद्ध है यह काव्य का अनिवार्य तत्त्व न—हीं

अनिवार्य तत्त्व ध्वनि है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि रस के उदाहरणों में ध्वनि की सत्ता अनिवार्यत: स्वीकार्य होती है, किन्तु जहां ध्वनि होगी वहां रस (रसध्वनि) अनिवार्यत: स्वीकार्य हो यह सदा आवश्यक नहीं है। किसी काव्य में केवल किसी भाव के अपरिपक्व रूप में वर्णित होने पर उसे रस का उदाहरण स्वीकार करना शास्त्रीय नहीं है। यह ठीक है कि रस (रसादि) अंगी और अंग रूप में वर्णित होने के कारण एक अति व्यापक काव्य-तत्त्व है, और इस दृष्टि से इसका भाव-फलक अति विशद है, और यही कारण है कि अधिकांश काव्य इसी के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है,[1] पर स्पष्ट है कि इस दृष्टि से इसे काव्य का अनिवार्य तत्त्व (साधन) स्वीकर नहीं कर सकते। यह तत्त्व वही स्वीकार्य होगा जो सर्वत्र विद्यमान हो। आनन्दवर्द्धन रस की इस न्यूनता से परिचित थे और इसी कारण उन्होंने ध्वनि-तत्त्व की स्थापना की। इसी कारण वह 'गतोऽस्तमर्क:' (सूर्य डूब गया) जैसे स्थलों मे काव्य की स्वीकृति तभी करते हैं, जब इनसे उत्सुकता आदि भाव व्यंजित होते है, पर यह 'उत्सुकता', जैसा कि ऊपर संकेत कर आए हैं, यहाँ वस्तु-ध्वनि का विषय है, न कि रस, भाव आदि का, क्योंकि विभावादि में से कोई भी यहां परिपक्व रूप मे प्रस्तुत नही हुआ।

वस्तुत:, ध्वनि को आत्मा अथवा साधन स्वीकार करने, और 'रस' को उससे जन्य 'सिद्धि' स्वीकार करने से रस का महत्त्व कम न होकर कहीं अधिक बढ़ जाता है—ध्वनि (व्यंग्यार्थ) तो साधन अथवा आधार है, किन्तु 'रस' सिद्धि अथवा आधेय है, जो कि सहृदय का अभीष्ट एवं अन्तत: प्राप्तव्य तत्त्व है, और रस की उपलब्धि शब्दार्थ-बोध के उपरान्त ध्वनि के माध्यम से होती है। अत: ध्वनि-रूप माध्यम की अपेक्षा रस-रूप सिद्धि का महत्त्व अपेक्षाकृत स्वत: सिद्ध है।

अन्तत: हम कह सकते हैं कि—

—जिस प्रकार शरीर के सभी धर्मों—सुख, दु:ख आदि का आधार 'शरीरी'

---

१. यहां यह संकेत करना अपेक्षित है कि 'रसध्वनि' ध्वनि के अन्य भेदों की अपेक्षा उत्कृष्ट मानी जाती है, किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं है कि रस-ध्वनि के उदाहरण ध्वनि के शेष चार भेदों के उदाहरणों की तुलना में अथवा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य के भेदोपभेदों के उदाहरणों की तुलना में काव्य-चमत्कार की दृष्टि से सदा उत्कृष्ठ कोटि के ही हों—वे निम्न कोटि के भी हो सकते हैं। वस्तुत:, यह सब शास्त्रीय मर्यादा (Academic decorum) है, जिसके कारण कभी-कभी काव्य-चमत्कार की दृष्टि से हीन पद्य भी रस के उदाहरण मान लिये जाते हैं।

(आत्मा) है, उसी प्रकार शब्दार्थ-रूप काव्य से उत्पन्न सभी प्रकार के आह्लादों का आधार ध्वनि-रूप आत्मा है।

—निष्कर्षतः, ध्वनि को ही, जो कि काव्य का अनिवार्य, व्यापक एवं आन्तरिक सार अथवा तत्व है, काव्य की आत्मा (साधन) स्वीकृत करना चाहिए, क्योंकि ध्वनि ही सब प्रकार के काव्यानन्द (साध्य अथवा सिद्धि) का साधन बनने की क्षमता रखती है।

—जहां तक रस का प्रश्न है, इस शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में दो अर्थों में होता है—(१) काव्यानन्द, काव्याह्लाद आदि के अर्थ में, अर्थात् साध्य अथवा सिद्धि रूप में। इस स्थिति में रस को काव्य की आत्मा नहीं मान सकते, क्योंकि 'आत्मा' से अभिप्रेत साधन है न कि सिद्धि अथवा साध्य। (२) 'रसध्वनि' के अर्थ में, अर्थात् ध्वनि-रूप साधन के एक प्रमुख भेद के अर्थ में। किन्तु इस अर्थ में भी रस को काव्य की आत्मा नहीं मान सकते, क्योंकि 'रसध्वनि' अपनी शास्त्रीय परिभाषा में परिबद्ध एवं सीमित है, और इसी कारण 'वस्तुध्वनि' आदि अन्य साधनों का चमत्कार रसध्वनि में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार 'रस' अपने उपर्युक्त दोनों प्रयोगों में काव्य की आत्मा बनने का अधिकारी नहीं है।

० ० ०

सहायक ग्रन्थ-सूची

[संस्कृत]

अन्नम्भट्ट	तर्कसंग्रह	चौ० सं० सी०
अप्पय्यदीक्षित	चित्रमीमांसा	चौ० सं० सी०
	वृत्तिवार्तिक	नि० सा० प्रे०
अभिनवगुप्त	'लोचन'	चौ० सं० सी०
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक	व्या०—आचार्य विश्वेश्वर
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित	,,
केशवमिश्र	तर्कभाष्य	चौ० सं० सी०
कैयट	महाभाष्य-प्रदीप	
जगन्नाथ	रसगंगाधर	नि० सा० प्रे०
जगदीश तर्कालंकार	शब्दशक्तिप्रकाशिका	
दण्डी	काव्यादर्श	बी०ओ० आर० आई०, पूना
धनंजय	दशरूपक	व्या०—भोलाशंकर व्यास
नरेन्द्रप्रभ सूरि	अलंकारमहोदधि	
नागेश भट्ट	वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा	
पतंजलि	महाभाष्य (नवाह्निक)	कैयट-भाष्य
भट्टोजिदीक्षित	शब्दकौस्तुभ	
भरत	नाट्यशास्त्र	चौ० सं० सी०, नि० सा० प्रे०
भर्तृहरि	वाक्यपदीय (३य काण्ड, १,२ भाग)	चौ० सं० सी०
	वाक्यपदीय (१म काण्ड)	चारुदेव-संस्करण
भामह	काव्यालंकार	व्या०—देवेन्द्रनाथ शर्मा
मम्मट	काव्यप्रकाश	व्या०—आचार्य विश्वेश्वर

महिमभट्ट	व्यक्तिविवेक	चौ० सं० सी०
मुकुलभट्ट	अभिधावृत्तिमातृका (टंकित प्रति)	व्या०—आचार्य विश्वेश्वर
यास्क	निरुक्त (दुर्गाचार्य व्याख्या)	
राजशेखर	काव्यमीमांसा	बि० रा० भा० प०
रुद्रट	काव्यालंकार	व्या०—सत्यदेव चौधरी
रुय्यक	अलंकारसर्वस्व	चौ० सं० सी०
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	व्या०—आचार्य विश्वेश्वर
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	टी०—शालग्राम

[हिन्दी]

कन्हैयालाल पोद्दार	काव्यकल्पद्रुम (दो भाग)
कपिलदेव द्विवेदी	अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन
नगेन्द्र	ध्वन्यालोक की भूमिका, व्या०—आचार्य विश्वेश्वर
बलदेव उपाध्याय	भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खण्ड)
भोलाशंकर व्यास	ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त
रामदहिन मिश्र	काव्यदर्पण

○ ○ ○

उद्धरणानुक्रमणिका

संस्कृत

हिन्दी

मुद्रण-त्रुटियां

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	१८	वणषु	वर्णेषु
१७	अन्तिम	वाक्यपदी ७४१	वाक्यपदीय १·७४
५८	१	चतुर्थ	द्वितीय

मुद्रक शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस नवीन शाहदरा दिल्ली तथा राम कम्पोजिंग एजेन्सी के द्वारा इन्डियन प्रिन्टर्स दिल्ली ६